तत्वानुशीलन
एक
निष्कारण
करुणाशील
हृदय
मंगल प्रारंभ
सत्पात्रता
आत्मरुचि
सरलता
ज्ञान गंगा
भक्ति
ज्ञान
सुविधि
सम्यक्त्व
...प्रकाशक...
श्री वीतराग
सत् साहित्य
प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर
शांतिका सागर

ॐ

श्री परमात्मने नमः

तत्त्वानुशीलन

लेखक

श्रद्धेय श्री शशीकांत म. शेठ

भावनगर

□ प्रकाशक :
• श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
फोन : ४२३२०७

प्रथम आवृत्ति : प्रत १५००
श्री वीर निर्वाण संवत् २५२४

[redacted]

મૂલ્ય : [illegible]

टाइपसेटिंग :
शारदा मुद्रणालय
जुम्मा मस्जिदके सामने, गांधी मार्ग,
अहमदाबाद-१

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/सी, बंसीधर एस्टेट,
बारडोलपुरा, अहमदाबाद-४

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रकाशित लेखोमें, अध्यात्म तत्त्व रसिक, तत्त्वनिष्ठ, श्रद्धेय पू. श्री शशीकान्तभाई म. शेठकी सशक्त लेखनीके द्वारा स्वयंकी अंतरमंथित अनुभवप्रधान सत्‌विचारणाकी गहरी, तलस्पर्शी सूक्ष्म खोजसे मुमुक्षुओंकी भूमिकाको स्पर्श करते ऐसे कितने ही प्रयोजनभूत विषयोंके बारेमें उनके मौलिक लेख तत्त्वानुशीलन (गुजरातीमें) प्रकाशित हुए हैं। जिनका संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है। उपरोक्त पुस्तिकामें छपे हुए लेखके बारेमें आत्महितेच्छुक मुमुक्षुओंकी ओरसे बहुत ही आवकार संप्राप्त हुआ है। उसके बाद अन्य लेख भी प्रकाशित हुए हैं। उन समस्त लेखोका हिन्दी भाषामें एक पुस्तकाकारके रूपमें प्रकाशन हो ऐसी कई जिज्ञासुओंकी माँग थी। इसलिये उक्त समस्त लेखोंको 'तत्त्वानुशीलन' (हिन्दी) के रूपमें प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है।

प्रस्तुत लेखोंमें जो कुछ विषयका प्रतिपादन है उस सम्बन्धमें लेखककी ओरसे प्रत्यक्ष उपकारी परम पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी, पुरुषार्थमूर्ति पू. श्री निहालचन्द्रजी सोगानी, एवं भगवती माता पू. बहेनश्री चंपाबहेनका प्रत्यक्ष समागम और उपकारसे प्राप्त उपदेशके फलस्वरूप है, जो अविस्मरणीय है। तद्‌उपरांत आत्मज्ञ सन्त परम कृपालुदेव "श्रीमद् राजचन्द्र" ग्रन्थमें से अंतर निहित अखण्ड मोक्षमार्गको एवं मुमुक्षु जीवको कहाँसे शुरुआत करके भवविनाशक सम्यक्‌दर्शन पर्यंत पहुँचना, उस विषयमें अनुभव प्रधान मार्गको प्रकाशित किया है। वह आत्मार्थी जीवोंके लिये प्रकाश स्तम्भ स्वरूप है और अत्यन्त उपकाररूप है।

अंतमें, इस ग्रन्थका मूल्य कम करनेके लिये जो दान राशि प्राप्त हुई है उसका साभार विवरण अन्यत्र प्रकाशित करनेमें आया है।

ग्रन्थके टाइप सेटिंगके लिये शारदा मुद्रणालय एवं मुद्रण कार्यके लिये भगवती ऑफसेट, अहमदाबादके हम आभारी हैं।

भावनगर | ट्रस्टीगण
वैशाख सुद-२ | **श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
ता. २८-४-१९९८
(पू. गुरुदेवश्री कहानजी स्वामीकी १०९ वीं जन्मजयंती)

अगर जीवको प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके समागम व आश्रयकी भावना नहीं वर्तती हो तो, शुद्ध अंतःकरणसे आत्महित करनेकी उसे इच्छा ही नहीं है ऐसा सिद्ध होता है। या तो जीव प्रत्यक्षरूपसे संसार परिभ्रमणसे भयभीत नहीं है। स्वच्छंदरूप प्रवर्तनका वहाँ अभिप्राय है।

✻

हे जीव। त्रिलोकीनाथ जैन परमेश्वरकी प्रदत्त निधि हाथ लगी है, कि जिससे शाश्वत कल्याणका उपाय सहजमात्र में प्राप्त होकर, अभी ही परमशांतिका अनुभव हो सकता है, तो फिर कारणको लेकर उसकी उपेक्षा हो ? या उपेक्षा करनी चाहिये ?

✻

लोकसंज्ञाका श्रद्धाके साथ संबंध है। जो लोगोंके अभिप्राय पर जीता है, उसे खुदके पर श्रद्धा नहीं है। जिसको खुदमें श्रद्धा होती है उसे लोगोंकी परवा नहीं होती। स्वयंकी निर्दोषता ही निःशंकताका आधार होनी चाहिये। सत्यको दूसरेके प्रमाणपत्रकी जरूरत पडे तो तो वह पंगु हो जाये। लोगों के अभिप्रायको खरीदनेवाले सत्यको बेचकर आत्मघात करते हैं। ऐसे जीवनमें शांति नहीं होती। सम्यक्मार्ग पर चलनेवाला स्वतंत्र विचारक, किसीकी भी परवा किये बिना, अपनी मस्तीमें जीता है। उसे कोई घटना या दुर्घटना चलित नहीं कर सकती, इतना ही नहीं बल्कि सभी प्रसंग मार्गकी दृढ़ता होनेमें ही उन्हें उपकारी होते हैं। सच्ची समझका ऐसा स्वभाव है।

✻

जिस मिथ्यात्वमोहिनीसे रौव रौव नरककी प्रतिकूलताको महात्माओंने सम्मत की है, उस मिथ्यात्वका त्याग करनेमें मुमुक्षुजीवको कौनसी प्रतिकूलताको मुख्य करके रुकने जैसा है ? इसका अति गंभीरभावसे विचार करने जैसा है; विचार कर्तव्य है। "अल्प भी भय रखना नहीं, (व) भविष्यकी एक पलकी भी चिंता करनी नहीं। ऐसी सत्पुरुषकी आज्ञा जयवंत वर्तो !!" आत्महितके वीर्योल्लासके आगे सारे जगतकी व भविष्यकी समस्त जिम्मेदारीयों (?) का विस्मरण रहे, तभी वास्तविक मुमुक्षुता प्रकट होती है, व तभी सन्मार्गके लिये प्रतिबंध मिटता है।

सौम्यमूर्ति पू. 'भाईश्री' का संक्षिप्त जीवन परिचय

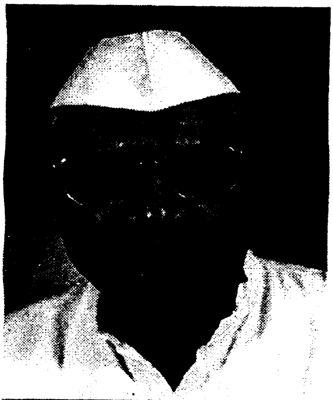

मंगल प्रारम्भ

संवत् १९८९ के मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष अष्टमी, ता. २४-११-१९३३के मंगल दिन, सुरेन्द्रनगरमें (नैनिहाल) एक हिन्दु वैष्णव कुटुम्बमें विधिकी कोई धन्य पलमें एक तेजस्वी बालकका जन्म हुआ। बालककी शांत और सौम्यमुद्राके अनुरूप उसका नाम भी "शशीकान्त" रखनेमें आया। बालकके पिता का नाम श्री मनसुखभाई एवं रत्नकुक्षी माता का नाम रेवाबहिन था। बचपन मूल वतन राणपुरमें व्यतीत हुआ। बाल महात्माके चरणस्पर्शसे वहाँ की धूली भी जैसे धन्यता सहित गौरव अनुभवने लगी। वर्तमानमें यही तेजस्वी बालक पू. "भाईश्री" के दुलारे नामसे प्रसिद्ध है।

इस बुद्धिशाली और तेजस्वी बालककी महत्वकांक्षा मेडीकल शाखामें उच्च स्तरीय अभ्यास प्राप्त करनेकी थी। किन्तु मेट्रिक पढनेके बाद कुटुम्बकी आर्थिक परिस्थितिवशात् उसे १७ वर्षकी युवा वयमें ही पिताश्रीके व्यवसायमें जुड़नेका फर्ज़ आ पड़ा। उनकी कार्यकुशलता, प्रामाणिकता, एवं कर्तव्यनिष्ठपने रूप सद्गुणोंसे प्रभावित होकर बंबई स्थित उनके कुटुम्बसे परिचित ऐसे एक नामांकित व्यापारीने अपने व्यवसायमें जुडने के लिये निमंत्रण दिया। इस प्रकार १९ वर्षर्क युवावयमें बहुत विशाल प्रमाणमें विस्तृत व्यवसायकी सम्पूर्ण जिम्मेदारी संभाल ली, कि जिस कारणसे उनका स्वास्थ्य बिगड़ा और स्वास्थ्य सुधार हेतु भावनगर आना हुआ। पश्चात् भावनगरमें एक सम्बन्धीकी दुकान पर नौकरी शुरु करके स्थिर हुए।

सत्यकी खोज

करीब ९-१० वर्षकी उम्रमें उनके दादाजीने उनके धार्मिक संस्कारोंका सींचन किया था। जिसमें गीता, भागवत, महाभारत और रामायण जैसे ग्रंथोका अध्ययन भी किया था। इस कारणसे १४-१५ वर्षकी उम्रसे ही विचारोंमें आदर्श प्रधानता शुरु हुई थी।

लगभग १४ वर्ष की उम्रमें पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी राणपुर पधारे थे, उस वक्त वे प्रवचन सुनने जाते थे। उस समय प्रवचनमें पू. गुरुदेवश्रीके श्रीमुखसे एक बात सुनी थी कि "देखो ! आत्मामें ज्ञान स्वयं हो रहा है। यह ज्ञान वाणीसे उत्पन्न नहीं होता है और गुरुसे भी उत्पन्न नहीं होता है; स्वयं ही उत्पन्न हुआ करता है। 'यह बात सुनते वक्त "देखो" शब्द प्रयोग हुआ था इसलिये उस वक्त उन्होंने अन्दरमें देखा था और स्वयंके अनुभवसे उस बातकी स्वीकृति की थी कि वास्तवमें, "मेरा ज्ञान भी स्वयं सहज उत्पन्न हो रहा है।'

बंबईमें व्यवसाय हेतु स्थिरताके दरमियान श्री पांडुरंग आठवले शास्त्रीजीको सुननेका प्रसंग बना था कि जिस कारणसे उनको तत्त्वज्ञान सम्बन्धीका रस पुनः जाग्रत हुआ था और उसके बाद तत्त्वविचार और मन्थन तीव्ररूपसे शुरु हो गया था। उस सुविचारणामें उनको सम्यक्ज्ञानको अनुसरण करनेवाला एक दृष्टिकोण साध्य करनेका अभिप्राय हुआ था कि कोई भी प्रसंगमें मेरी उस परिस्थिति के बारेमें निर्णय यथार्थ प्रकारसे लिया जाय, ऐसा दृष्टिकोण मुझे प्राप्त करना चाहिये। इस विषय पर गहरा मन्थन चला करता था।

पुनः इस जिज्ञासु और शोधकवृत्तिके कारण सर्व सामान्यको लागू होती ऐसी सुख-दुःखकी समस्याका, जन्म-मरणके नाशके संदर्भमें वैज्ञानिक उपाय क्या है ? उसकी खोज उनको चालु ही रहती थी। उतनेमें...

[illegible]

सत्यकी खरी जिज्ञासावान इस उज्ज्वल आत्मासे आखिर सत्य कितने दिन दूर रह सकता है ? भावनगरमें दुकान पर कोई अपूर्व कल्याणकारी दिन दुकानके एक ग्राहक द्वारा 'श्रीमद् राजचंद्र' नामक ग्रन्थका मंगल योग बना। तीव्र जिज्ञासावशात् उन्होने आकस्मिक रूपसे कुछ एक पन्नोंको फिराकर देखने पर अत्यंत प्रभावित हुए। उनको लगा कि लिखनेवालेकी पद्धति और दृष्टिकोण हेतुलक्षी, सिद्धांतिक, मध्यस्थतापूर्ण और न्याययुक्त है।

जैन दर्शनके विभिन्न सिद्धांतोंको स्वयंके अनुभवके साथ मिला करके देखने पर थोडे ही समयमें ऐसी प्रतीति हुई कि जैन दर्शनमें जन्म-मरण सम्बन्धी कारण-कार्य सहितका वैज्ञानिक पद्धतिसे वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार जैन दर्शनकी सर्वोत्कृष्टता उनके हृदयमें बस गई।

आत्म साक्षात्कार

श्रीमद् राजचंद्रजीके वचनामृतोंका और अनुभवप्रकाशका गहन अभ्यास पूर्वकका रसास्वादन करके जैसे एक तेज अश्व उसके मालिकके एक ही इशारे से पवनवेगसे दौड़ने लगता है वैसे स्वयंके परम तारणहार परमकृपालुदेवके वचनरूप संकेतसे इस पूर्व संस्कारी धर्मात्माने परिणमनमें अप्रतिहत पुरुषार्थकी छलांग लगाकर मात्र छःमाहके अल्प समयमें सम्यग्दर्शनके परम सुखसे परितृप्त ऐसी पवित्र आध्यात्मिक दशाको प्राप्त करके पूर्व संस्कारका अनुसंधान कर लिया। मात्र २१ वर्षकी युवा वयकी गृहस्थदशामें और बड़े कुटुम्बकी जिम्मेदारीके बीच, मात्र १००/- रु. की तनखाहकी अति तंग आर्थिक परिस्थितीमें एक निष्ठासे प्राप्त की हुई यह महान और अपूर्व सिद्धिके दर्शन करते अत्यन्त भक्तिभावसे मस्तक झुक जाता है। और पुरुषार्थकी प्रेरणा देते इस प्रसंगसे रोमांच उल्लसित होकर हृदयके तार-तार पुकार उठते हैं कि "धन्य है आपश्री के अदम्य पुरुषार्थको !! धन्य है आपश्रीकी पवित्र साधनाको !!

युगपुरुषका समागम

भावनगरमें धार्मिक प्रवृत्तिओंमें सत्संग दरमियान श्री शांतिभाई सरवैया नामक एक मुमुक्षुभाईकी ओरसे सोनगढ से प्रकाशित "आत्मधर्म"के ४-५ अंक पढने मिले थे। जिस परसे युगपुरुष अध्यात्मद्रष्टा पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका समागम करनेकी भावना प्रकट हुई और सोनगढ में उस चिंन्मूर्ति पू. गुरुदेवश्रीका प्रवचन सुनने जानेका उनके साथ बना था। प्रथम ही मुलाकातमें पू. गुरुदेवश्री समक्ष उनकी पहिचान एक वैश्नवकी तरह देनेमें आई तब पू. गुरुदेवश्रीने कहा था कि, "यहाँ हमारे तो कोई जैन भी नहीं है और वैष्णव भी नहीं है, हमारी दृष्टिमें तो सभी आत्माएं ही है। ऐसे समदृष्टिभरे वचनोंको सुनकर पू. गुरुदेवश्री के प्रति आकर्षण हुआ था।

उसके बाद, पू. गुरुदेवश्रीको ६ माह पर्यंत ४-५ बार श्रवण योग दरमियान परीक्षादृष्टिसे चिकित्सावृत्तिसे देखना तथापि सुनना रखा था। इस प्रकारसे देखने पर अन्तरंगमें सम्यक् प्रतीति उत्पन्न हुई कि, "यह तो कोहिनूर हिरा है। कोहिनूर हीरेको क्या पहचानना ?" पश्चात् पू. गुरुदेवश्रीके अति निकट सान्निध्यमें रहनेका बना। पू. गुरुदेवश्रीको भी

उनके प्रति अपार प्रेम था। इस प्रकार एक सर्वोत्कृष्ट युगपुरुषके प्रेम सान्निध्यमें रहनेका सुदीर्घकालिन योग संप्राप्त हुआ। स्वयंकी ज्ञानदशा तो थी ही उसमें ऐसे युगपुरुषकी भेंट होनेसे सोनेमें सुगंध मिलने जैसा बना।

पुनः पू. गुरुदेवश्रीका जिनमार्ग प्रभावनाके उदयको देखकर उनको ऐसी भावना होती थी कि, इस अलौकिक जगहितकर मार्गकी प्रभावना होती हो तो भूखमरी सहन करके भी करनी चाहिये – ऐसी एक विशिष्ट बलवान भावना रहती।

अन्य आत्मार्थीका प्रत्यक्ष समागम

उसके बाद, लगभग दो वर्ष बाद – जिस उज्ज्वल आत्माने पू. गुरुदेवश्रीके प्रत्यक्ष समागम योगमें प्रथम ही प्रवचन श्रवण करके आत्मदृष्टि प्राप्त की थीं ऐसे पुरुषार्थमूर्ति पू. श्री निहालचन्द्रजी सोगानीजीके परिचयका दूसरा अपूर्व योग बना। लगभग ५ वर्षके घनिष्ट सान्निध्यमें पू. श्री सोगानीजीकी उग्र आत्म परिणतिको अति समीपतासे ध्यानपूर्वक देखी। जिस कारणसे उनके स्वयंके परिणाम भी विशेष बलवान होते थे। इस प्रकारसे हुए उपकारके कारण उपकारबुद्धिवशात् पू. श्री सोगानीजी स्वर्गलोक सिधारने के बाद उनके पत्र और धर्मचर्चाका संकलन करके 'द्रव्य-दृष्टि प्रकाश' जैसे अध्यात्मके उच्च कोटिके ग्रन्थका प्रकाशन कार्य किया था। इस प्रकार, पू. श्री सोगानीजी जैसे एकावतारी अद्वितीय महापुरुषके अक्षरदेह द्वारा उनकी तीव्र ज्ञानदशाका मुमुक्षु समाजको दर्शन करवाया। जो वर्तमान मुमुक्षु समाज पर अविस्मरणीय उपकार है।

पुनः पू. गुरुदेवश्रीकी धर्मसभाकी शोभारूप प्रशममूर्ति स्वानुभवविभूषित भगवती माता पू. बहिनश्री चंपाबहेनके वचनामृत – "बहेनश्रीके वचनामृत"को प्रकाशित करनेकी प्रेरणा भी पू. भाईश्रीकी ओरसे ही मिली। तदुपरांत पू. गुरुदेवश्रीके स्वर्गलोक सिधारनेके बाद अनेक प्रकारसे पू. बहिनश्री प्रति सेवा-भक्ति-समर्पणका अपूर्व लाभ भी उनको मिला था।

इस प्रकार, जहाँ एक धर्मात्मा भी मिलना अति दुर्लभ है ऐसे इस देश-कालमें उनको अपनी ज्ञानदशा सहित तीन-तीन धर्मात्माओंका निकटका प्रेमपूर्ण सान्निध्य संप्राप्त हुआ। जिस कारणसे उनका समग्र जीवन प्रगाढ़ सत्संगयुक्त बना।

प्रभावना योग

पू. गुरुदेवश्रीके प्रभावना योगको देखकर स्वयंको प्रभावना करने सम्बन्धी जो भावना थी उसे सर्व प्रकारसे उन्होंने साकार की। जिसमें मुख्यतः श्री सीमंधर स्वामी जिन मंदिर-भावनगर, श्री परमागम मंदिर, श्री नंदिश्वर जिनालय – सोनगढ, जैसे जिनमंदिरोंके निर्माण कार्यमें गुप्त रहकर अपूर्व भक्ति पूर्वक समर्पण किया। तदुपरांत पू. गुरुदेवश्रीकी भावि पर्याय सूर्यकीर्ति भगवानकी स्थापना प्रत्येक गाँवोमें करके पू. बहेनश्रीकी भावनाको मूर्तिमंत स्वरूप दिया।

पुनः उनकी प्रेरणासे पू. गुरुदेवश्रीकी सम्मतिपूर्वक शास्त्र प्रकाशनार्थ "श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट" की स्थापना हुई। जिसमें लाक्खों ग्रन्थ प्रकाशित हो चूके हैं और वर्तमानमें भी हो रहे हैं।

इसके अतिरिक्त, उन्होने विविध आचार्यों और ज्ञानीओं द्वारा लिखित करीब एक सौ ग्रन्थोंका जैसे कि श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री नियमसार श्री परमात्मप्रकाश, श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, श्री कलशटीका, श्री अनुभवप्रकाश, श्री चिद्विलास, श्री सम्यक्ज्ञान दीपिका, श्री नाटक समयसार, श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत और अन्य पुराण इत्यादिकका गहन अभ्यास करके उसके रहस्यको तथा मर्मको स्वयंकी मौलिक और सरल शैलीमां प्रवचनोंके द्वारा मुमुक्षुओंको अमृतपान करवा रहे हैं। अंतिम ३० वर्षोंसे वे जाहिर स्वाध्याय दे रहे हैं। जिसकी ओडियो केसेट्स भावनगरमें अभी उपलब्ध है।

इसके अलावा, स्वयंकी अनुठी प्रायोगिक शैलीमें "निर्भ्रान्त दर्शनकी पगदंडी", "प्रयोजन सिद्धि", "तत्त्वानुशीलन भाग-१-२-३", 'मुमुक्षुता आरोहण क्रम" इत्यादिककी समर्थ रचना द्वारा जन्म-मरणकी जटिल समस्याको सुलझाने अति उपकारी मार्गदर्शन दिया है। पुनः उन्होने ज्ञानामृत, परमागमसार, पथ-प्रकाश, भगवान आत्मा, विधि विज्ञान, दूसरा कुछ न खोज, धन्य आराधना, अध्यात्म पराग, जिणसासणं सव्वं, इत्यादि अनेक ग्रन्थोंको संकलन एवं विवेचनरूपमें प्रकाशित किये हैं।

अध्यात्म मूर्ति पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके पंच परमागम तथापि अन्य परमागमोंके उपरके विशिष्ट प्रवचनों ध्वनिमुद्रित केसेट उपरसे अक्षरशः पुस्तकाकाररूपमें प्रकाशित हो ऐसी उनकी विचारधारा और भावनाके फलस्वरूप "प्रवचन रत्नाकर" भाग-१ से ११ प्रकाशित करनेमें उनका

बहुमूल्य मार्गदर्शन तथा योगदान रहा है।

इसके अतिरिक्त, पू. गुरुदेवश्रीकी ४५ वर्षीय साधनाके दोहनके (सारके) फलस्वरूप, मक्खन स्वरूप १४३ प्रवचन प्रकाशित होनेमें विलम्ब होने पर भी वर्तमानमें उनके निर्देशन तले "प्रवचन नवनीत" भाग १-२ प्रकाशित हुए और थोडे ही समयमें भाग ३-४ भी प्रकाशित होंगे। पू. गुरुदेवश्रीके अन्य परमागमों पर के प्रवचन भी प्रकाशित हो ऐसी उनकी भावना है। भारतमें और विदेशमें भी जिनमार्गकी प्रभावनाका कार्य वे कर रहे हैं।

[illegible]

महान दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित अनेक प्राचीन परमागम जो उपलब्ध नहीं है उसके अन्वेषण अर्थ "श्री कुन्द कुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट" नामक ट्रस्टमें उन्होंने तामिलनाडु एवं कर्नाटक प्रांतमें शास्त्रकी शोध चलाई थी। इसके अतिरिक्त वर्तमानमें जर्मन युनिवर्सिटीके साथ इस प्राचीन शास्त्र-शोधके अर्थ प्रयास कर रहे हैं ।

अभी "श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट" नामक ट्रस्टके नीचे हिन्दी और गुजरातीमें प्रकाशित होनेवाली मासिक आध्यात्मिक पत्रिका "स्वानुभूतिप्रकाश" को अपूर्व निर्देशन दे रहे हैं। इसके अलावा भावनगरमें दो वक्त नियमित रूपसे स्वाध्याय एवं तत्त्वचर्चाका लाभ भी दे रहे हैं ।

अंततः ऐसे अद्भूत सामर्थ्यवन्त आश्चर्यकी प्रतिमारूप महापुरुषकी प्रत्यक्ष विद्यमानता वह साम्प्रत मुमुक्षु समाजका परम सौभाग्य है कि अभी भी मोक्षमार्ग जीवंत चल रहा है।

"सत्पुरुषका योगबल जगतका कल्याण करो !!"

अनुक्रम

१. सुविधि १
२. पर्यायमें एकत्व १०
३. आत्म-रूचि १५
४. सत्पात्रता १८
५. स्वाध्याय पद्धति २८
६. विवक्षा छत्तीसी ३३
७. भाव संतुलनरुप अनेकांत ३६
८. ज्ञान ४२
९. मंगल प्रारंभ ४७
१०. परिणमनमें अभिप्रायकी भूमिका ५५
११. भक्ति ६४
१२. आत्म-संतुलन ७२
१३. अष्टांग विभूषित अखण्ड सम्यग्दर्शन ८९
१४. सरलता १०७
१५. श्री जिनेंद्रदर्शन ! १११
१६. आत्म-उन्नतिका प्रशस्त क्रम ११५
१७. विज्ञान और धर्म १२१
१८. समकितका बीज १३५
१९. एक महान् समस्या और उसका निराकरण १४२
२०. सम्यकृत्व प्राप्त करनेवाला आत्मार्थी कैसा हो ? १४५
२१. सम्यकृत्व क्या है ? १५६

दान राशि

बज परिवार, कलकत्ता	५०००/-
श्री धीसालालाजी कोठारी, हैद्राबाद	१५००/-
श्री हीरालाल जैन परिवार, भावनगर	११००/-
एक मुमुक्षु, दिल्ली ह. दयाचंद जैन	५५१/-
एक मुमुक्षु, कलकत्ता	५००/-

परम विवेकपूर्वक विचार करने योग्य है कि : यह जीव स्वरूपकी सावधानीको छोडकर, परमें सावधान होकर परिणमन करता है, वहाँ अभिप्राय दुःखी नहीं होनेका यानी कि सुखी होनेका होते हुए भी दुःख अनिवार्य है। और ऐसी परमें सावधानी स्वयं ही (तत्काल) दुःखरूप है; व भावि दुःखका भी कारण है। अतः सुखी हो ही नहीं सकता बल्कि भ्रमणासे मिथ्या/विपरीत पुरुषार्थ होता रहता है। इसलिये ऐसे व्यर्थ परिणाममें – पुरुषार्थकी व्यर्थता व अनर्थता जानते हुए जीवको अनुक्रमसे पूर्वकर्म अनुसार आते हुए उदयको, समभावसे, साक्षीभावसे, स्वयंका भिन्नपना ज्ञाननिष्ठ रखते हुए सावधानीपूर्वक निजपरिणामके पुरुषार्थमें रहना, वह परम विवेक है। और इस प्रकार वर्तते हुए अगर "प्रारब्धकी कठिनाई" खड़ी होगी, तो वास्तवमें वह 'कठिनाई' नहीं रहेगी, बल्कि पारमार्थिक लाभका एक सुंदर, स्वच्छ, निमित्त बनके रहेगा, कि जिसका परम विवेक, आनंद व समभावसे स्वागत करने कभीका आगेसे राह देखते हुए (मुमुक्षु) खडा है। इसलिये हे जीव ! जरा भी क्षोभ किये बिना तुम सर्व उदयसे उदासीन, उपेक्षित होकर स्वरूपके उद्यममें पूरी शक्तिसे लगे रहो – ज्ञानीपुरुषोंने तो मिथ्यात्व मोहिनीके आगे 'तम-तम प्रभा' व रौव रौव नरकको सम्मत किया है, तो तुझे 'परमार्थकी प्राप्ति करानेवाली कठिनाई' को सम्मत करनेमें जरा भी धबराने जैसा क्या है ?

❋

देह है, वह आत्मा नहीं है, व आत्मा है वह देह नहीं है। देहको देखनेवाला, जाननेवाला ऐसा आत्मा देहसे प्रगट भिन्न है। ऐसे भिन्न देहमें मुर्च्छा होनेसे प्रायः जीव उसकी चिंतामें, आकुलताको भोगता हुआ जीवन गंवाता है।

मुमुक्षुजीवको देहकी चिंतामें जीवन खर्च करना योग्य ही नहीं है। केवल स्वरूपका अज्ञान वर्त रहा है उसी की चिंता व भय होना चाहिये। यह महान आत्मा देहकी चिंता करने योग्य नहीं है। देहकी वृद्धि-क्षय आदि देखकर हर्ष-शोक करना उचित नहीं है। मृत्यु समीप देखने पर भी ज्ञान समेत जिसे देहके प्रति मुर्च्छा नहीं वर्तती है – उन्हें नमस्कार हो !!

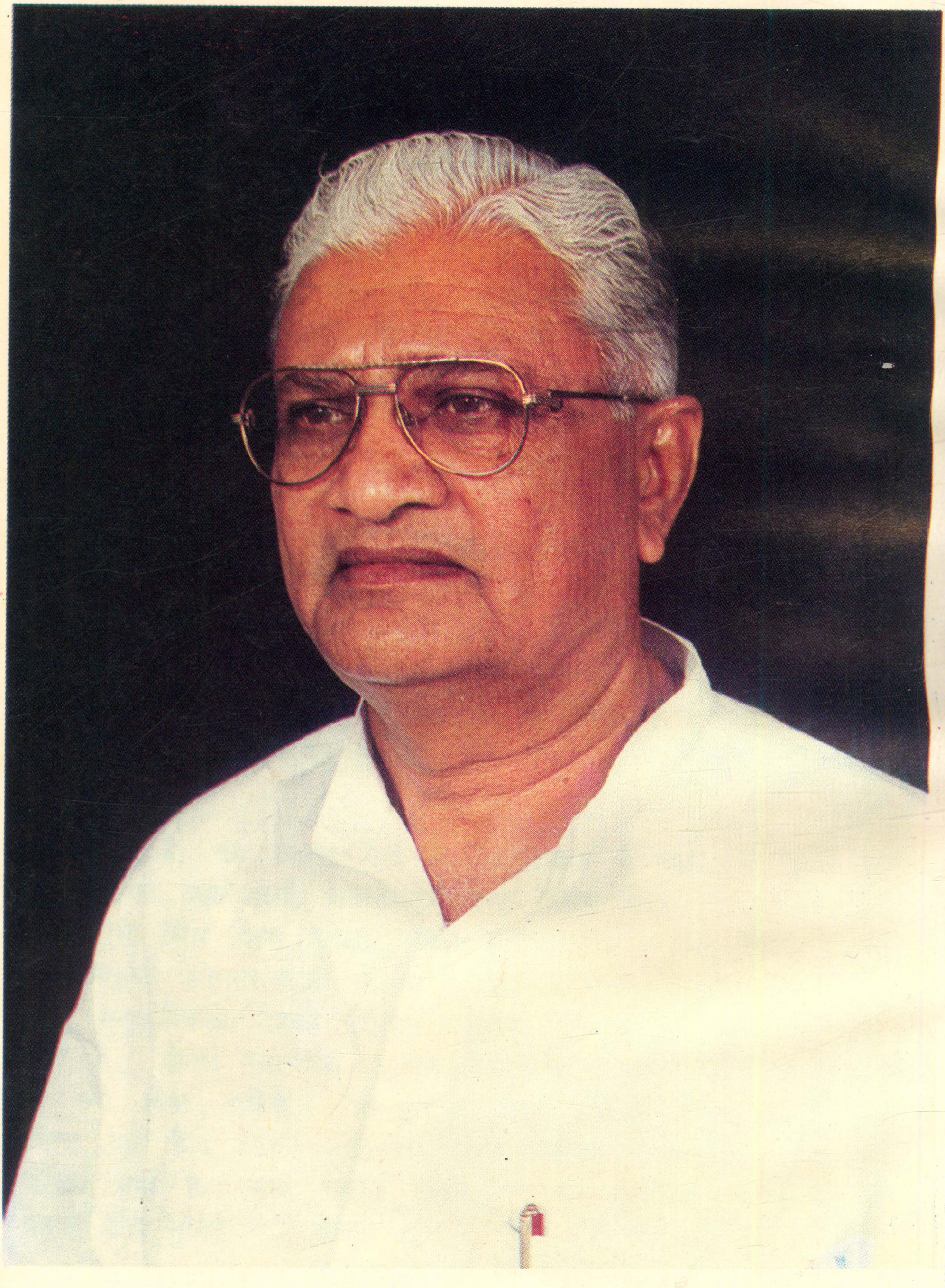

સૌમ્યમૂર્તિ પૂ. ભાઈશ્રી શશીકાંતભાઈ શેઠ

सुविधि

स्वरूप प्राप्त करनेकी कार्यपद्धति – यथार्थ कार्यपद्धतिको 'सुविधि' कहते हैं। ऐसी सुविधि कोई परिभाषा (Theory) नहीं है। उसी प्रकारसे (यह) किसी सूत्रका शब्दार्थ, भावार्थ अथवा धारणा-ज्ञानका प्रकार नहीं है परन्तु स्वरूप साधनेके लिये उद्यमवंत जीवका प्रयोगात्मक परिणमन है जो कि उपायरूप है।

यद्यपि एकमात्र आत्महित के लक्षसे द्रव्यश्रुत द्वारा यानी कि आत्मानुभवी पुरुषोंकी वाणीका श्रवण-वाचन, सत्पुरूषके चरणोंमें रहकर स्वरूप प्राप्तिकी भावना और लगनी सहित करनेमें आये; वहाँ प्रथम विचार-मनन-चिंतवनपूर्वक श्रुतकी धारणाका प्रसंग है। फिरभी धारणारूप समझको साथ ही साथ उदय प्रसंगमें लागु करना – करते ही रहना चाहिये; अन्यथा मात्र धारणासे संतुष्ट होकर वहीं पर रुक जाना अनिवार्यरूपसे हो जायेगा। इस प्रकार(की) समझके बाद परिणमनकी दिशामें एक कदम आगे बढनेकी यह पद्धति है।

ज्ञानी पुरुषोंने आत्महितके उपायका दो विभागमें वर्णन किया है – एक तो साक्षात् मोक्षका मार्ग कि जो सम्यक् पुरुषार्थ सहित होता है और दूसरा उसकी प्राप्ति हेतु पूर्वभूमिकामें उस मार्ग पर्यंत पहुँचनेके प्रयासरूप मुमुक्षुदशा। इस प्रकार ज्ञानदशा और मुमुक्षुदशामें किस प्रकारके प्रयोगसे आगे बढते बढते पूर्ण शुद्धिरूप ध्येयको साधनेमें आता है उस मार्गकी विधिकी सूक्ष्मता विकल्प जितनी स्थूल नहीं है तो वचन-कथनकी स्थूल परिस्थितिमें किस प्रकार समा सके? ऐसी एक समस्या इस विषयको व्यक्त करनेमें यहाँ उत्पन्न होती है; तथापि समर्थ सत्पुरुषोंने प्रस्तुत विषयको यत्किंचित वचनगोचर किया हुआ होनेसे, उसके आधारसे स्व-पर हितार्थ यहाँ प्रस्तुत है :

प्रथमतः ही जिस जीवको जन्म-मरणके चक्रमेंसे छूटनेका तीव्र भाव/उछाल अंतरसे आता है अथवा जो एकमात्र आत्महितार्थ उल्लासित् वीर्यवान होकर उसी लक्षसे प्रवर्तता है वैसा जीव अपनी दशामें प्रवर्तमान अवगुणोंका नाश करनेके दृष्टिकोण को मुख्य रखकर सत्श्रुत का अवगाहन करता है, वहाँ प्रथम कार्य विचार-मननपूर्वक शुरू होता है उसमें अपने

पूर्वग्रहित अभिप्राय तथा मान्यतासे विरुद्ध प्रकारों एवं उपदिष्ट विषयका बहुत मंथन चले और उस मंथनके अंतमें सत्य सम्मत हो जाये, तो भी प्रयोग करके उसे संमत करनेकी पद्धति रखें – ऐसा प्रकार, यह सुयोग्य प्रकार है।

यथार्थ कार्यपद्धति/विधिके संदर्भमें सोचने पर अपने परिणामोंका अवलोकन होना ही योग्य पद्धति है क्योंकि अवलोकन हुये बिना परिणाममें उत्पन्न रसको जीव स्वयं समझ नहीं सकता और तत्त्वज्ञानका अभ्यास मात्र धारणारूप परलक्षी हो जाता है। ऐसी परलक्षी धारणाका उपयोग नहीं हो सकता और ऐसी उपदिष्ट धारणा प्रायः कृत्रिमताको उत्पन्न करती है अर्थात् धारणानुसार कार्य करनेकी कर्तृत्वबुद्धि से धारणाका विषय चरितार्थ करनेका होता है। वास्तवमें तो तत्त्वका अभ्यास स्वलक्षी/आत्मलक्षी होना चाहिये क्योंकि :

❑ स्वलक्षीज्ञान ही प्रतीतिको उत्पन्न कर सकता है, परंतु परलक्षी आगमज्ञान अनादि विपरीत श्रद्धा को पलटनेके लिये समर्थ नहीं है। जिस तरह रागसे विपरीत श्रद्धा पलटी नहीं जा सकती उसी तरह परलक्षी ज्ञान भी सम्यक् श्रद्धाको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।

❑ स्वलक्षीज्ञान गुणको/स्वभावको साध सकता है परन्तु परलक्षी ज्ञान विकल्पवृद्धिमें परिणमता है या प्रायः शास्त्रीय अभिनिवेश आदि दोषोंको साधता है।

❑ स्वलक्षीज्ञान अनुभवमें आ रहे भावोंकी गहराईमें जाता है, जिससे स्वभाव-विभाव जातिकी परख होनेकी क्षमता उत्पन्न होती है परन्तु परलक्षी ज्ञान तो स्थूलरूपसे ऊपर-ऊपरसे प्रवर्तन करके मात्र धारणा करता है।

❑ स्वलक्षीज्ञानके साथ प्रतीति सम्मिलित होती है जिसके कारण स्वरूपस्थिरताका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। परन्तु परलक्षी ज्ञान विशाल क्षयोपशमवाला होने पर भी उससे उपयोगकी स्वरूपमें स्थिरता नहीं हो सकती।

❑ स्वलक्षीज्ञानमें हुआ आत्मस्वरूपका निर्णय स्वरूपकी अनन्य रुचि, अंतर्मुखी पुरुषार्थका बल एवं अपूर्व चैतन्यरस (स्वरुपमहिमाकी वजहसे उत्पन्न हुआ) उत्पन्न करता है। परन्तु परलक्षी ज्ञानसे आगमके आधारसे किया हुआ स्वरूपका निर्णय भी आत्मस्वरूपके महिमा-रस-रुचि-पुरुषार्थको जागृत नहीं कर सकता।

जीवके परिणमनके विज्ञान अनुसार परिणामकी शक्ति उसमें रहे हुए रसमें मौजूद है। इसलिये विभावरस टूटकर स्वभावरस समुत्पन्न हो यह जीवका कर्तव्य है। विभावरस शुभ तथा अशुभ दोनों समानरूपसे आत्मा को प्रतिबंधक है – ऐसा अवलोकन बिना अन्य किसी तरीकेसे अपनेको अनुभवमें (समझमें) नहीं आ सकता। रस तथा रुचिके परिणाम अविनाभावी है, इसलिये स्वयंकी विभावकी रुचिको पलटाये बिना; जो कोई जीव ध्यान-योगादि प्रयोग द्वारा उपयोगको बहिर्मुखतासे पलटाकर अंतर्मुख करना चाहता है उसे मार्गकी यथार्थ विधिके क्रम की खबर नहीं होनेके कारण उस कार्यमें सफलता प्राप्त नहीं होती है। वैज्ञानिक परिस्थिति ऐसी है कि प्रथम रुचिको पलटाये बिना उपयोग नहीं पलट सकता। इसलिये इस विज्ञानसे अनजाने जीव अविधिपूर्वक उपयोगको पलटानेका व्यर्थमे ही परिश्रम करते हैं, उसमें समय और शक्तिका मात्र दुर्व्यय ही होता है।

निजहितकी तीव्र भावनाके कारण मुमुक्षुजीव जब अवलोकन पद्धतिमें आता है; तब स्वयंके ही चलते परिणामका जो अनुभव (है), उसे समझनेका अभ्यास चलता है। शास्त्रके निमित्तसे निमित्ताश्रित ज्ञानाभ्यास है, जब कि यहाँ उपादानआश्रित ज्ञानाभ्यास है। बारंबारके अवलोकनके दीर्घकालीन अभ्याससे; अवगुण टालने के लक्षवाले जीवको अनेक प्रकारके विभावभावमें आकुलताका अनुभव होता है – ऐसा अनुभवपद्धतिसे समझता है। तदुपरांत उन उन विभावोमें निहित किन्तु व्यक्त मलिनताको भी- अनुभवसे समझता है। इसलिये उन-उन भावोंकी अरुचि पैदा होती है तथा वहाँसे खिसकने की सहजवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार विभावरस मंद पड़ता है। अवलोकनके अभ्यासमें आत्मरुचिके कारण सूक्ष्म हुये ज्ञानमें अपनी विभाव परिणती मुमुक्षुजीवको भास्यमान होती है।

जीव सामान्यतः संसारमें अनुकूलता-प्रतिकूलताकी मुख्यता में संयोगोंसे चिपककर प्रवर्तते रहते हैं। परन्तु आत्मार्थी जीव इस प्रकारमें नहीं जाकरके उदयमें इष्ट-अनिष्टपने से निवर्तित होने के पुरुषार्थमें लगा रहता है – निजहितकी अपूर्व लगनीसे लगा हुआ होने के कारण वह अवश्य आत्महित साधेगा।

अवलोकन करनेवाला ज्ञान स्वयंका अवलोकन भी करता है, वहाँ प्रथम ज्ञानकी व्याप्तिके अनुभवको बारंबार उदयके प्रसंगोंमें जाँचता है,

जिस जाँच के अभ्यासकी फलश्रुति इस प्रकार आती है कि मेरा ज्ञान (पुद्‌गलके जो-जो कार्य जीवभावके साथ निमित्तनैमित्तिकभावसे परस्पर मेलवाले हो रहे है फिर भी) किसी भी संयोगी पदार्थमें व्यापता नहीं है; मात्र जाननेकी मर्यादामें ही रहता है। विकल्प भी मात्र विकल्पकी ही मर्यादामें रहता है । वह विकल्प भी विकल्पानुसार कार्यका अनुसरण करे ऐसे शरीरादिकी पर्यायोंमें व्यापता नहीं है। इस तरह कार्य-कारणमें स्व-परकी भिन्नता अवलोकनसे समझमें आने पर जीवका उदयके कार्यो को करनेका रस टूटता है और ऐसे परिणाममें परपदार्थके प्रतिका जोर (बल) कम हो जाता है। जहाँ किसी भी कार्यको करनेका रस एवं जोर न हो वहाँ तत्संबंधित दुराग्रह और तीव्र कषायरस कैसे हो ?

सर्व दोषोंसे रहित होनेकी भावनामें, पूर्णशुद्धि प्राप्त करनेका अभिप्राय रहा है। अतः पूर्ण शुद्धताका लक्ष-ध्येय दृढ मोक्षेच्छा में परिणमित होता है। स्वरूपप्राप्तिकी ऐसी भावनामें आत्मस्वभावकी भावना गर्भित है। इसलिये मुमुक्षुजीवको अपना मूलस्वरूप पहचाननेकी कोई अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसी जिज्ञासाका अंत जब तक 'स्वरूपनिर्णय' में नहीं आता तब तक (यह) अतृप्त जिज्ञासा मुमुक्षुजीवके सभी उदय प्रसंगोमें और पंचेन्द्रियके विषयोमें नीरस कर देती है । इतना ही नहीं अपितु इस स्थितिकी तीव्रतामें से गुजरने पर नींद भी उड़ जाती है अर्थात् रात-दिन उसकी आत्मा स्वरूप-खोजमें लगी रहती है। निर्मोही स्वरूपकी खोजकी तीव्रताके कारण दर्शनमोहका अनुभाग यथार्थरूपसे काफी मात्रामें कम होता है। इसलिये ज्ञानमें अनादिसे रहे अज्ञान-अंधकारके पटलकी प्रगाढता कम होती है, अर्थात् इस भूमिकामें ज्ञान स्वरूपनिश्चय हेतु सक्षम / निर्मल होता है – ऐसे मुमुक्षुजीवको आध्यात्मशास्त्रके भाव यथार्थ रूपसे भासित होते हैं और ऐसे निमित्तोमें आध्यात्मरस वृद्धिगत भी होता है।

दर्शनमोहका अनुभाग कम होनेका दूसरा एक समर्थ कारण भी इस कालमें उत्पन्न होता है, वह विद्यमान सत्पुरूषके चरणसानिध्यमें सरलतापूर्वक सत्संगप्राप्तिकी भावना है। अनादिसे अनजान ऐसे सन्मार्गको दर्शानेवाले सत्पुरूष, मार्गके सच्चे जिज्ञासुके लिये वास्तवमें परमात्मा तुल्य ही है, ऐसा मात्र स्वरूपके खोजी जीवको ही लगता है; इसलिये यदि कदाचित किसी सत्पुरूषका योग हो जाये तो सर्वार्पणबुद्धिसे सत्संगको मुख्य करता है और यदि ऐसा योग न हो तो, वह ऐसे योगकी

आश्रयभावनामें वर्तता है। इस प्रकारके परिणाम, दर्शनमोहका अनुभाग कम होनेका अति सुगम व सरल उपाय हैं। 'स्वरूपनिश्चय' होनेकी योग्यताकी प्राप्ति-तथारूप वर्तमान पात्रता यहाँ उत्पन्न होती है। दर्शनमोहके विज्ञान अनुसार यह सिद्धान्त है कि 'दर्शनमोह मंद हुये बिना वस्तुस्वरूपका भासन होता नहीं और दर्शनमोहका अभाव हुये बिना आत्मा अनुभवमें आये ऐसा है नहीं।'' आत्मानुभव होनेका यह अनिवार्य क्रम है।

उपरोक्त पात्रतामें आया हुआ मोक्षार्थी जीव अंतर संशोधनमें गहराई में जाता है तब स्वयंके 'ज्ञान लक्षण' से ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय निम्न विधिसे करता है : इस विधिका प्रसिद्ध नाम 'भेदज्ञान' है। वहाँ प्रथम बुद्धिपूर्वक उपर उपरसे भेदज्ञानका प्रयास चालु होता है। प्रयास मतलब स्वयं मात्र जाननेवाला/ज्ञायक है ऐसे ज्ञायकका ज्ञायकरूपसे अभ्यास करे, यानी उदयमें जब-जब हर्ष-शोक के भावोंके तीव्र रसके प्रसंगोमें अपनी जाँच करे (ज्ञान, ज्ञानकी जाँच करे) तो स्पष्ट मालूम पडता है कि मेरे ज्ञानमें तो वास्तवमें कुछ कम-ज्यादा हुआ नहीं अर्थात् हर्ष होनेसे मुझे कुछ मिला नहीं और शोकके प्रसंगमें मेरेमें से कुछ गया नहीं। यह सिर्फ विकल्प करने मात्र नहीं परन्तु चलते हुए परिणमनमें अपने अनुभवकी जाँच करके मालूम पडी हुई भिन्नता है। बारंबार इस प्रकार भिन्नपनेका अभ्यास होनेसे स्वयंको ख्याल आता है कि मिथ्याबुद्धिरूप अभ्याससे जो 'परप्रवेशभाव' रूप अनुभव हो रहा है उसका झूठापन समझमें आता है। 'परप्रवेशभाव' वह विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है, ऐसा अवलोकनसे समझमें आता है तब उस भूलको मिटानेकी सूझ ख्यालमें आती है। अर्थात् सुलटे प्रयोगकी रीत समझमें आती है। यह 'परप्रवेशभाव' ही जीवके स्वसंवेदनको रोकनेवाला भाव है। इस प्रकार भेदज्ञानके प्रयोगाभ्याससे मालूम पडता है कि कोई परज्ञेय (रागादि परभाव भी) वास्तवमें मेरे पर – ज्ञान पर किंचित मात्र असर नहीं पहुँचा सकता है। अनंतकालसे मैने परपदार्थका अनुभव किया है ऐसी मान्यता रखी है, वह असत्य है। अनंतकालसे रागादि भावोंके असरमें अनेकविध विकारीभाव रूप अपनेको अनुभव करके प्रगाढ रसवाले विकारी परिणामके बीच रहनेके बावजूद भी मेरा ज्ञानस्वरूप सदा निर्लेप ही रहा है।

अगर मोक्षार्थी जीव विशेष प्रकारकी पात्रतामें वर्तता हो और स्वहितमें उत्साहित वीर्यसे वर्तते हुए प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक प्रसंगमें,

उपयोगमें ज्ञानकी व्यापकता को अवलोकता हो तो स्वयं 'ज्ञानमात्र' रूप भिन्न भासित होता है। इसप्रकार 'ज्ञानमात्रपनेका' अभ्यास वृद्धिगत होनेसे 'ज्ञानमात्र'में ज्ञानवेदन भास्यमान होता है। वेदन कभी भी परोक्ष नहीं होता। अतः ज्ञानवेदनसे स्वयं प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष सहज स्वरूपसे है – ऐसा अपने मूल स्वरूपका भावभासन स्वसन्मुखताके सहज पुरुषार्थ को सहज उत्पन्न करता है, जो वृद्धिगत होने पर कोई अपूर्व पराक्रमसे परोक्षपनेका विलय करके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स्थिरभाव धारण करेगा। इस प्रकारका भेदज्ञान वह विभावके निषेधपूर्वक प्रगट स्वभावका आदर-सत्कार है। परमार्थकी तीव्र भावनामें वर्तते जीवको इस प्रकारका भेदज्ञान प्रयासरूपसे सहज होना योग्य है।

भेदज्ञानके प्रयोगसे (अनादिसे जो रागकी मुख्यता अर्थात् रागमें मैंपना/रागमें अस्तित्वपना ग्रहण हो रहा है उसको) ज्ञानमें मैंपना द्वारा ज्ञानको मुख्य करनेसे रागादिभावोंमें अभेदबुद्धिसे वर्तनेसे कर्तापने का नाश होता है। यह स्वरूप अस्तित्व ग्रहण करनेकी प्रक्रिया (Process) है।

ज्ञानमें मात्र ज्ञानको स्वरूपसे अवलोकन करनेका दृष्टिकोण साध्य करके बारंबार प्रयत्न करनेसे ज्ञानकी स्वभाव जातिकी परख आती है; तब विभावजातिवाले भावोंकी भी परख आती है; इसलिये विभावका कोई भी रूप अति शांत मनकी शांतिके रूपमें हो तो भी वह विभाव ही है, ऐसी पहचान आती है, और उस विभावकी मलिनता तथा आकुलता पहचानमें आ जाती है।

प्रगट ज्ञानमें स्वभावअंशका विकास (– खुलापन) होनेसे स्वभावकी अनंत शक्ति/सामर्थ्य, शाश्वतपना आदिका निर्णय हो सकता है। जिसे रागके छोटे से छोटे कणमें दुःख, मलिनता और अचेतनपनेका (– ज्ञानप्रकाशके अभावका) निर्णय होता है; (युक्तिसे नहीं परन्तु अनुभव के अवलोकनसे) उसको ज्ञानलक्षण द्वारा स्वभावस्वरूप में स्थित अनंत सुख-सामर्थका भी निश्चय होता है। अवलोकनमें चेतना... चेतना... चेतनाके सातत्य द्वारा अपना चेतना-गुणमयपना, परद्रव्यसे तथा रागसे अपनेको भिन्न करनेका एकमात्र साधन है, इसके अलावा अन्य कोई साधन नहीं है।

ज्ञानमें रहे हुए ज्ञानवेदन द्वारा लक्षरूप आत्माकी प्रसिद्धि है। यह लक्ष-लक्षणकी संधि है। जैसा आत्मा केवलज्ञानमें जाननेमें आता है वैसा

ही आत्मा लक्षगत होने पर अनंत महिमावंत पदार्थ साक्षात् सिद्ध स्वरूप मैं हूँ, ऐसा लगते ही वे उसकी कोई अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है। यह महिमा आत्मरस द्वारा परिणतिको उत्पन्न करती है। बारंबार अपने ज्ञान-दर्शन द्वार में स्वरूपशक्ति को देखनेसे, उसमें निहित अनंत सुखका भंडार प्रतिभासित होने पर निर्विकल्प स्वरूपका रस घुटकर गाढ होता जाता है, ऐसी परिस्थितीमें स्वभाव की अनन्यरूचि अपूर्व भावसे प्रगट होती है और रुचि अनुयायी वीर्य पुरुषार्थ के द्वारा अनंत प्रत्यक्ष नूरका पुंज ज्ञानमें रही हुई परोक्षताको विलीन करके सहज प्रत्यक्षरूप वर्तने लगता है।

जब कि आम तौरसे तत्त्वाभ्यास करनेवालेका ऐसा अभिप्राय होता है कि 'आत्मा परोक्ष है, अप्रगट है, इसलिये जाननेमें नहीं आता है' इसका समाधान ऐसे है कि स्वरूपसे तो आत्मा प्रत्यक्ष ही है, परन्तु पर्याय अंतर्मुख हो तो 'आत्मा प्रत्यक्ष है' ऐसा जाननेमें आता है। बहिर्मुख ज्ञानकी पर्यायवालेको आत्मा प्रत्यक्ष लगता नहीं है, भासित नहीं होता है; परन्तु आत्मा प्रत्यक्ष ही है। उसके सन्मुख ढ़लकर देखे तो स्वयं प्रत्यक्ष है, ऐसा भासित होता है। परन्तु सन्मुख कैसे होना अथवा कैसे ढलना इसकी समस्या अवश्य है; इसका समाधान इस प्रकार है कि :

उपयोगमें यानी कि चलती हुई ज्ञानकी पर्यायमें जाननरूप वस्तुको अर्थात् स्व को जाने। ज्ञानके आधारसे निर्विकल्प ज्ञानवेदनके आधारसे हुआ निर्णय स्वरूपलक्ष को उत्पन्न करता है। यह निर्णय राग या निमित्त (देव-शास्त्र-गुरू) के आधारसे हुआ नहीं है, परन्तु रागसे अंशतः मुक्त होकर ज्ञानसे ज्ञानस्वभावका (स्वका) ज्ञानकी अधिकता में (अनादि रागकी मुख्यता थी उसको पलटकरके) हुआ भावभासन है, कि जिसमें भवी-अभवीकी शंका नहीं रहती।

ज्ञान स्वयं वेदक स्वभावी है। इसलिये प्रवर्तमान ज्ञानकी पर्यायमें, वही पर्याय स्वयंके वेदनका अनुभव करे, तब स्वसन्मुख होकर वेदनका (प्रसंग) बनता है। इस तरह स्वसन्मुख होनेकी रीति (पद्धति) है। अंतरंगमें रहे ज्ञानवेदनको वेदते समय ज्ञानकी दिशा किसी बाह्यज्ञेय पर नहीं होती है, परन्तु यहाँ ज्ञान की दिशा अंतर्मुख होती है और अंतर्मुख परिणमनस्वभाव प्रतिभासित होता है। दशाकी दिशा पलटना वह अपूर्व है। ऐसे स्वरूपनिर्णयके कालमें ही एक अखंड-अभेद वस्तुके

द्रव्य-गुण पर्याय आदि भेद यथार्थरूपसे समझमें आते हैं। भेद समझमें आने पर भी, भेदका दृष्टिकोण गौण होकर मुख्यरूपसे अभेदता साधनेकी प्रक्रिया चलती है। वास्तविक परिस्थिति यह है कि वेदन वर्तमान अंशका होनेके बावजूद भी अवलंबन अंशीका/ स्वभावका लेना है। जबकि वर्तमान अंशरूप वर्तता हुआ भाव, त्रिकाली ज्ञायक स्वभावमें 'मैं-पनेके भावसे' अभेदता साधकर स्वरूपानुभव करता है; फिर भी वेदन त्रिकालीमें नहीं होता है; और पर्यायमें राग वेदन गौण होकर ज्ञानवेदनका आविर्भाव होने पर भी उसका इतना मुख्यपना नहीं होता जिससे कि उसका अवलंबन ले लिया जाये।

विधिके संक्षेपका विचार करें तो प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावकी प्रत्यक्षताका प्रतीतिके बलसे बारंबार उग्रपना होनेसे (अभेदभावसे मै ऐसा ही हूँ') स्वसंवेदनका आविर्भाव होता है। जिसमें श्रद्धा और ज्ञानकी मैत्री है। इसी विधिका स्व. श्री दीपचंदजीने 'अनुभवप्रकाश' में इन शब्दोमें वर्णन किया है "ज्ञानके प्रत्यक्ष रसका भावमें वेदन करना – वह अनुभव है।" – "स्वयंको ही प्रभु स्थापित कर, अपने परमेश्वरपदका दूर अवलोकन न कर।" अर्थात् अपने परमपदका भिन्न रहकर (– अवलोकनकी पर्यायमें खडे रहकर) अनुभव नहीं कर सकते हैं।

जिस निजात्मतत्वकी पहचान होती है वह शक्तिरूप होने पर भी अविकृतरूपसे, अंतर्मुखपनेसे द्रव्यमें व्याप्यव्यापकभावसे परिणमित होनेका उसका स्वभाव है। इस दृष्टिकोणसे स्वभावको देखनेसे (– मात्र विचार करनेसे नहीं), भाने से – शक्तिका व्यक्त परिणमन होने लगता है। द्रव्यानुसारी शुद्ध परिणमन उत्पन्न होनेका यह विज्ञान है।

इस तरह वर्णनके अनेक प्रकार होने पर भी 'विधि' तो एक ही प्रकार से है।

प्रसिद्ध लक्षणसे प्रसाध्यमान स्वभावकी/परमतत्व की महानता ही ऐसी है कि समस्त जगत सहज ही गौण हो जाता है। जगतको गौण करनेके लिये कृत्रिम विकल्प अथवा कोई अन्य चेष्टा नहीं करनी पडती है।

प्रथम शुद्धोपयोगका जन्म उक्त भेदज्ञानके प्रयासका फल है और तभी सर्वगुणांश ऐसा सम्यकत्व प्रगट होता है, यहाँसे ही साक्षात् मोक्षमार्गका प्रारंभ होता है। मोक्षमार्गी धर्मात्माको भेदज्ञान याद नहीं करना पडता या रटना नहीं पडता परन्तु सहज यानी कि विकल्प

किये बिना सविकल्पदशामें भी भेदज्ञान, परिणतिरूपमें निरंतर वर्तता है। श्रद्धा तो अखंड स्वरूपमें प्रसरित हो जाती है और अपने परमात्मपदके अलावा अन्य किसी द्रव्य-भावको वह स्वीकारती नहीं है। स्वयंके परिणाममें से अस्तित्वपनेकी श्रद्धाका नाश हो जाता है। वह शुरूआतसे लेकर केवलज्ञान पर्यंतकी पूर्णदशा निकटमें वर्तती होने पर भी श्रद्धा उसको विषय नहीं करती; ऐसा ही कोई स्वभाविक गुण सम्यक्श्रद्धा के विषयमें है। मोक्षमार्गमें वर्तता सम्यक्ज्ञान स्व-पर प्रकाशनमें अपनेको शुद्धरूप उपासता रहता है और निर्मलता आदि धर्मसहित पूर्णता के प्रति गतिमान रहता है। ज्ञानकी प्रवृत्ति नय-प्रमाणयुक्त होती है। उसमें हमेशा व्यवहारनयकी गौणता तथा निश्चयनयकी मुख्यता रहनेके कारणसे निश्चयस्वरूप सधता है और निश्चयके जोरसे अशुद्धता टलती जाती है तथा शुद्धता वृद्धिगत होती जाती है। तो भी मोक्षमार्गमें पुरुषार्थके अनुसार सिद्धिके समयका आधार है। अर्थात् पूर्ण शुद्धिको प्राप्त होनेमें पुरुषार्थकी तीव्रतासे अल्प समयमें पूर्ण शुद्धिकी प्राप्ति होती है, जितनी शिथिलता रहती है उतना समय ज्यादा लगता है; परन्तु अल्प (असंख्य) समयमें साधकदशा की पूर्णता अवश्य हो जाती है; पुरूषार्थकी उग्रतामें मोक्षमार्गी धर्मात्मा शुद्धोपयोगमें परिणमन करते हैं और पुरूषार्थकी मंदतामें सविकल्पदशामें रहना होता है; फिर भी परिणतीमें धर्मध्यान निरंतर चालु ही रहता है, जिसे स्वरूपआचरणचारित्र अथवा आत्मचारित्र कहनेमें आता है। ये सारे परिणाम अभेदरूपसे और अविरुद्धपने से वर्तते हैं – ऐसा जानना चाहिये।

महात्माओंने समस्त शास्त्रोंकी रचना भेदज्ञान होनेके लिये की है। क्योंकि यह उनका अखंड जाप है अथवा स्वधर्म में रहनेरूप प्रवृत्ति है।

अतः स्वरूपप्राप्तिके अभिलाषी जीवोंको समस्त सिद्धांत और उपदेशके सारभूत सम्यक्विधिको जानकर अंगीकार करने योग्य है। ॐ शांति

□

पर्यायमें एकत्व

(१) **अशुभमें रस आना :** पुद्‍गल पंचेन्द्रियके विषयभूत पर्यायो में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धिपूर्वक तीव्र रस उत्पन्न होने से उन-उन भावोमें तन्मयता होनेसे दृष्टि मिथ्या होती है, रहती है; पर्यायबुद्धिका यह लक्षण है। इसलिये निश्चयाभासी निश्चय-प्रधानताकी चाहे जितनी बात करे, पर उसे अशुभ विषयमें रस आये वहाँ दृष्टि सम्यक् कहाँसे रहे ? अशुभभाव में तो वास्तवमें तीव्र दुःख है – वह भी उसे दिखता नहीं/लगता नहीं; वहाँ ज्ञान बहुत मलिन (कषायरसवाला होने की वजह से) हो गया है; तथा स्थूलता बढ़ी है।

(२) **शुभमें दुःख नहीं लगना :** शुभभावमें (मंद) कषायका सद्‍भाव है; जहाँ कषाय है वहाँ आकुलता अवश्य होती है। परंतु, शाता में – कृत्रिम शांति में सुख की कल्पना (– सुखस्वभाव की स्वभावबुद्धिके अभावके कारण) होती है। तदुपरांत शुभभावमें धर्म अथवा धर्म का साधन मानना यह तो प्रकट मिथ्यादृष्टिपना है – वह जीव तो अकषाय स्वभाव/धर्मको धारणापूर्वक भी जानता नहीं है।

जिस जीवकी धारणा में भूल नहीं है अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभभाव में धर्म नहीं मानता – ऐसे जीवको भी पर्यायमें एकत्व के कारण विकल्पमें बोझा नहीं लगता, तथा मलिनता भासित नहीं होती।

वास्तवमें तो, निरुपाधिक स्वभाव-दृष्टि में विकल्पमात्र बोझ रूप है, और राग के अकर्ता (ऐसे) स्वभाव को राग के कर्तृत्व में अनंत बोझा और दुःख है। नेत्र द्वारा कूडेका ढेर उठवाने बराबर है।

(३) **पर्याय की मुख्यता :** तत्वज्ञान का अभ्यास करनेवाले जीव को प्रायः ऐसा अभिप्राय हो जाता है कि – पहले तो विकल्प होता है न ! पहले तो शुभ भाव होता है न ! इत्यादि... इत्यादि... परंतु वहाँ प्रथम ही त्रिकाली स्वभाव की महत्ता आकर अधिकता रहनी चाहिये; इसके बजाय पर्याय पर उपरोक्त प्रकार से वजन रहा करता है, इसलिये पर्यायबुद्धि मिटती नहीं है, अपितु वृद्धिगत होती है। (पर्याय के क्रमका ज्ञान करना यह अलग प्रकार है, और मुझे पहले 'अमुक पर्याय करनी चाहिये' – यह पर्यायबुद्धि का विपर्यास है।)

(४) **पर्यायमें संतुष्टपना :** यह मिथ्यादृष्टिका खास लक्षण है। द्रव्यलिंगी भी इस प्रकारकी भूलमें रह जाता है – चारित्र तथा ज्ञानके क्षयोपशम विशेषके कारण संतोष हो जाता है, अथवा ठीकपना रहता है; वहाँ उस जीवको वास्तवमें आत्मिक सुखकी जरुरत लगती नहीं है। अथवा स्वरूपप्राप्तिका अभाव होने पर भी असंतोष उत्पन्न होता नहीं है, परंतु चारित्रमें अधिक मंदकषाय होने से, पूर्व के तीव्र कषायकी अपेक्षा ठीकपने की गिनती होती है – वह संतोषका ही प्रकार है, जो पर्याय के एकत्वको दृढ करता है।

किसी जीवको स्वाध्याय के निमित्त से ज्ञानका क्षयोपशम बढता है; वहाँ धारणाज्ञानमें रस आनेकी वजह से अथवा न्यायादि समझमें आने से हुई प्रसन्नतामें रुक जानेके कारण, अथवा पूर्वकी असमाधानरूप समझके कारण हो रही आकुलता (समाधान हो जानेसे) मंद होनेकी वजह से – इसे ज्ञानका फल जानकर रुक जानेका होता है; और इसलिये स्वभावका अंतर-प्रयासका अभाव वर्तता है; फिर भी उसकी चिंता उत्पन्न नहीं होती; परंतु भ्रम से चल रही पर्याय के प्रकार को दृढ करने लगता है; वह पर्यायके एकत्वको वृद्धिगत करता है।

(५) **पर्यायका अवलंबन :** त्रिकाली परम स्वभावका अवलंबन लेने योग्य है; और इसके अलावा किसीका – संयोगका, देहका, रागका या एक समयकी पर्याय का भी अवलंबन लेना योग्य नहीं है। 'मैं समझता हूँ' आदि उघाडमें (क्षयोपक्षमके विकासका) रस रहने से पर्यायका एकत्व छूटता नहीं है।

(६) **पर्यायका आश्रय/आधार :** यद्यपि, कार्य मात्र वस्तुके पर्यायअंग में होता है; इसलिये दोषका अभाव होनेका तथा गुण प्रकट होनेका प्रयोजनभूत कार्य पर्यायमें होता है। और प्रयोजनके कारण से भी वजन पर्याय पर रहता है, वहाँ अनादिसे पर्यायमें एकत्वकी स्थिति ज्यादा दृढ हो जाती है। परंतु, त्रिकाली द्रव्यस्वभावका आश्रय होने पर ही उक्त प्रयोजनभूत कार्य सधता है – यह भूल जाने से, पर्याय के आधार से पर्यायका कार्य साधनेका पर्याय-आश्रित कृत्रिम पुरुषार्थ का विकल्प रहा करता है।

(७) **पर्यायका रस :** वेदन पर्याय में होनेकी वजह से, पर्याय में रस सहज उत्पन्न होता है। तत्त्व विचारवाले जीवको भले जगत के प्रसंगोंका/विषयोंका रस शायद न हो; परंतु अनेकविध पर्याय के

पहलूओंको जाननेका रस हो जाता है; एवम् अध्यात्मदशाओंकी महिमा श्रवण-वाचनमें आनेके कारण पर्यायत्वका रस वृद्धिगत होता है; और इसलिये द्रव्यस्वभावकी दिशामें जोर लगता नहीं; वहाँ पर्यायके रसमें खिचकर रुक जाता है – इसलिये भी पर्यायका अनादिका एकत्व छूटता नहीं; यह ध्यान खींचने योग्य है।

(८) **पर्यायका लक्ष :** मुमुक्षु जीवको भूल से – अनजानेमें ही पर्यायका लक्ष रह जाता है। पर्याय में विवेक रहना चाहिये, अथवा अनुभव अभी हुआ नहीं है, अथवा इच्छा होने पर भी निर्विकल्प हुआ नहीं जाता... इत्यादि... प्रकारसे पर्याय पर लक्ष रहनेसे, त्रिकाली नित्यअंग पर लक्ष नहीं रहता।

मूल – असल स्वरूपकी पहचान – भावभासन होकर स्वभावका लक्ष हो जाना चाहिये – जिससे कि लक्ष वहींका वहीं रहा करे, हटे नहीं; ऐसा होनेकी बजाय जिसे पर्यायका लक्ष रहे, वह पर्यायमें एकत्वको मिटानेके लिये असमर्थ है – अयोग्य है।

(९) **पर्यायमें सावधानी :** निज-परमतत्व के लक्ष के अभावमें मुमुक्षु जीवको पर्यायमें सावधानी रहा करती है। साधक-बाधक भावों संबंधी, अथवा व्यवहारभाव अमुक प्रकारके तो होने ही चाहिये! इस तरह शुरुसे ही व्यवहारका विकल्प करनेका अभिप्राय रखनेमें आता है, अथवा पर्यायको अंतर्मुख करनेकी इच्छासे भी पर्याय प्रति सावधानी रहती है – वह पर्यायबुद्धि से रहती है। ऐसे विकल्प से अंतर्मुख नहीं हुआ जाता, परंतु द्रव्यस्वभावकी सावधानी से ही अंतर्मुख हुआ जाता है और तभी पर्याय का एकत्व मिटता है।

(१०) **पर्याय पर जोर :** स्वरुपका चिंतन-मनन-घोलन के बहाने पर्याय पर जोर रहे... तो भी पर्यायका एकत्व वृद्धिगत हो जाता है यह ध्यान रखने योग्य है। तथा सहज अंतर्मुखी पुरुषार्थके स्वरूपसे अनजान ऐसे जीवको पुरुषार्थ करनेके विकल्पसे भी पर्याय पर जोर रहता है; परंतु इससे कार्य सिद्ध नहीं होता है।

स्वरूप-सामर्थ्य के आधार से वीर्य सहज उछलता है अर्थात् पर्याय का वेग स्वरूप-प्रत्ययी सहज मुडे... ऐसा स्वरूप आकर्षण वह सम्यक् पुरुषार्थका स्वरूप है। उसमें 'मात्र ज्ञायक हूँ' ऐसा निर्विकल्पभाव से बल रहता है – वह यथार्थ है।

(११) **पर्यायका कर्तृत्व :** पर्यायके कर्तृत्वके कारण जीव रागादिभावोंका

कर्ता होकर परिणमता है। स्वयं ज्ञानस्वभावी रागादिसे भिन्न स्वरूप होते हुए भी; और रागादिका स्वभावसे अकर्ता होने पर भी; भिन्न अकर्तास्वभाव के बेभानपनेके कारण रागादिभाव अपनेमें (ज्ञानमें) होते हुए प्रतिभासित होते हैं, अथवा स्वयं रागादिभाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

परंतु, स्वभाव द्वारा रागादि किये नहीं जा सकते – ऐसे स्वरूपके भानमें रागादि होवे उस समयमें उसका ज्ञान रहता है; परंतु स्वयं कर्ता, कारयिता या अनुमोदक नहीं बनता।

सम्यग्दर्शन करनेके बहाने, पुरुषार्थ करनेके बहाने या उपयोगको स्वरूपमें एकाग्र करनेके बहाने – जीवका अनादिका पर्यायका कर्तृत्व चालु रहता है; तब तक जीव पर्यायबुद्धि है; और उन उन भावों से पर्यायका एकत्व मिटनेकी बजाय वृद्धिगत होता है।

(१२) **पर्यायमात्रका मैंपने अवधारण :** कुछ जीव अपनेको सर्वथा अज्ञानी मानकर, अथवा आत्मशुद्धिरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र प्रगट करनेमें असमर्थ मानकर, अथवा स्वयं साधारण संसारी जीव है – इसलिये अध्यात्मकी ऊंची बातें सुनते (ही) ऐसी कार्य-सिद्धि के लिये अपनेको अयोग्य मानकर, प्रारंभसे ही वर्तमानस्थिति के आश्रयमें रहकर, सम्यक् पुरुषार्थ होनेमें आड रखकर बैठ जाता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि या मुनिदशाकी साधना, गुण-महिमा आदिका श्रवण होने पर स्वयं अज्ञानी है... इसलिये इन बातों से स्वयंका कोई संबंध नहीं है, अपनेको उन-उन बातोंमें कुछ लागु नहीं होता अथवा अपने लिये कार्य कठिन है – इस प्रकार पर्याय बुद्धिसे उन-उन भावोंसे तथा भावनाओंसे उपेक्षित होकर विमुख वर्तता है; तथा सांप्रदायिक – ओघसंज्ञासे की जा रही क्रियाओमें रसपूर्वक प्रवर्तता है। – यह वर्तमानपर्याय में 'मैंपने' की वजह से है।

पुनः, जीवको वर्तमान पर्यायमें 'मैंपना' रहनेसे त्रिकाली स्वभावमें 'मैंपना' नहीं हो सकता है। इसलिये स्वभाव से अपनेको जुदा कल्पना करके कृत्रिम प्रयत्न करता है। स्वभावके महिमा की बात भी कोई दूसरे की बात हो... उस प्रकार से करता है। जैसे कोई सोचता है कि 'मुझे स्वरूपका ध्यान करना है' वहाँ ध्यान करनेवाला किसी अन्यका ध्यान करना ऐसा प्रकार 'पर्याय में मैंपना' रहने की वजह से उत्पन्न होता है।

परंतु, ध्येयरूप 'स्वभावमें मैंपना' होने से पर्याय मेरा ध्यान करती

है; पर्याय मेरे स्वरूप के आनंदका लाभ लेती है; तथा मेरे प्रति लीनता भाव करके – स्वरूप-निवास करती है; ऐसा पर्यायका ज्ञान शुद्धपर्याय प्रकट होनेपर अकर्तृत्वभाव से होता है... वहाँ पर्याय में कार्यसिद्धि होने पर भी पर्यायमें एकत्व रहता नहीं / होता नहीं है।

इसके अलावा पर्यायमें एकत्व के कारण और भी अनेक प्रकारके भाव होते हैं, वे लक्ष में लेने योग्य हैं; जैसे कि –

मुमुक्षुदशा में तत्त्व-श्रवण तथा शास्त्र-वाचनसे बहुत सारा जान लेनेका अपेक्षाभाव (– लोभ) रहता है, ओर ऐसे लोभवशात् ज्यादा जानपनेकी वृत्तिके कारण – अभी ही – वर्तमानमें ही स्वरूप-आश्रयका प्रयास होना चाहिये, स्वभाव सुनते ही चोट लगनी चाहिये – ऐसा प्रकार उत्पन्न नहीं होता; और अनजानेमें ऐसी जानपनेकी प्रवृत्ति से लाभ होनेका अभिप्राय बंध जाता है; वह सत्य पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है; और तत्त्व-अभ्यासकी बाह्य प्रवृत्तिमें रुक जाता है – लगा रहता है – वहाँ सहज अंतर्मुख प्रयत्नका अभाव वर्तता है... उसे खेद भी नहीं होता – यह पर्यायमूढता का लक्षण है। इससे प्रवर्तित पर्यायभावोंमें मूर्छित हो जानेसे, वहाँसे छूटकर स्वभाव पर नहीं आया जा सकता है। पुनः,

वेदन पर्यायमें होनेसे जीवको अनादिसे पर्याय अपने रूपसे / सर्वस्वरूपसे भासित होती है। परंतु वह वस्तुका बदलता अंग है – अनित्य है – इसलिये व्यय हो जाती है। अस्थिरभाव में सर्वस्वपना स्थापित हो जाय... वहाँ स्थिरता कैसे हो ? इसलिये त्रिकाल स्थिर-ध्रुव – अभंगअंग – अपना सत्यार्थ शाश्वत स्वरूप है जो कि अनंत दिव्य गुणोंसे विभूषित होने से अनंत महिमावंत है... उसको स्वयंको पहचान कर... उसीमें लीन रहना योग्य है।

□

आत्म-रुचि

जीवके परिणमनमें जैसे ज्ञानकी प्रधानता है, वैसे ही रुचिके परिणाम भी खास प्रकारका महत्त्व रखते हैं। परमार्थमार्गमें उस विषयको समझना महत्त्वपूर्ण होनेसे इस विषयमें यत्‌किंचित विचारणा करने योग्य है, जिससे विराधक परिणामोसे होता हुआ अहित न होवे और निजहितको साध सकें।

(भाव) दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे उत्पन्न जो आत्माके निर्दोषता-पवित्रता प्रत्ययी सुहाते परिणामको 'रुचि' कहेने योग्य है; जो विकसित हो करके निर्दोष परिपूर्ण पवित्र आत्म-स्वभावको ही विषय करती है या अनन्य भावसे चाहती है। इस तरह सुलटी रुचिसे सम्यक्‌त्वकी प्राप्ति होती है, और इस विषयके सिवा अगर रागकी, दोषकी, पुण्यकी, कषायकी, अनेक प्रकारके संसारके भावोंकी रुचि हो तो उससे मिथ्यात्व दृढ होता है। मुमुक्षुजीवकी विधि-विषयक भूल नहीं रहे, यह इस विचारणाका खास हेतु है।

स्वभावकी 'यथार्थ रुचि' स्वभावके भाव-भासनसे उत्पन्न होती है, और इसलिये स्वभावका अनन्यभावसे भाना होता है। ऐसे रुचिवंत जीवको उदयके अनेक कार्योके प्रसंग पूर्वकर्म अनुसार रहेते है, उसवक्त उदयकी प्रवृत्ति खटकती है और बोझारूप लगती है; ऐसे समयमें अनेक कार्य करने पर भी जागृति और सावधानी उपरांत लक्ष्य, आत्मस्वभावका ही रहा करता है, अर्थात् बाह्य प्रवृत्ति उपयोगरहित चक्षुके जैसी चलती है।

जैसे पतंगा दीपककी रुचिवशात् झपटकर दीपकमें गिरता है, वैसे आत्मरुचि पुरुषार्थके वेगको उत्पन्न करनेवाली होनेसे शिथिलता व प्रमाद को दूर करके, स्वभाव प्रति जोर करके ऊछलती है। रुचिमें स्वभावके सिवा दूसरा पोसाता नहीं। स्वविषयकी प्राप्तिके बिना चले नहीं – ऐसी ही स्थिति यथार्थ रुचिमें होती है; जहाँ दूसरा पोसाता है वहाँ रुचि (स्वविषयक) नहीं है, ऐसा समझने योग्य है। रुचिवानको आत्मकल्याण दूर नहीं है।

आत्म-रुचि स्वयं धर्मकी पात्रता है। रुचिसहितके परिणाम सहज ही, वैराग्य और उपशमसे सराबोर होते हैं। परन्तु यथार्थ रुचि बिनाके शुभ भाव भी लुखें और चंचलतावाले होते हैं।

आत्मरुचि बिना भेदज्ञान भी नहीं हो सकता। परलक्षी क्षयोपशमज्ञानमें "भेदज्ञान संवरका कारण होनेसे करने योग्य है" – ऐसा समझने पर भी, रुचि के अभावमें भेदज्ञान नहीं होता। परन्तु आत्मरुचिवंत जीव सहज भेदज्ञान (रागकी अरुचि होनेसे) करता है।

पुनः स्वरुपसाधना करनेके इच्छुक कोई हैं। जीव बहिर्मुख प्रवर्तते उपयोगको पलटाकर अंतर्मुख करना चाहते है, लेकिन अनादिसे पर और रागकी रुचिको पलटाये बिना उपयोग पलटकर अंतर्मुख होता नहीं। – यह मार्गकी विधिका क्रम है, अथवा यथार्थ कार्यपद्धति है। अविधिसे कार्य नहीं हो सकता; फिर भी करनेका उद्यम करें तो मिथ्यात्व दृढ होता है। तात्पर्य यह है कि अंतरकी रुचि बिना अंतरमें जाया नहीं जाता।

आत्मरुचिके सद्भावमें स्वरूप प्राप्त करना सहज-सुगम लगता है। रुचि बिना 'वह' कठिन लगता है। अनुभवप्रकाश ग्रंथमें पूज्य श्री दीपचंदजी कासलीवाल ऐसा कहते हैं – "इस कालमें स्वरूपका अनुभव कठिन है, ऐसा माननेवाला स्वरूपकी चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है।" उक्त वचनामृतके आलोकमें मुमुक्षु जीवको खुदको रुचि संबंधित परिणामकी जांच करने योग्य है।

स्वरूपकी अरुचिके कारण जीव मोक्षमार्गको कठिन समजकर दूसरा सरल मार्ग अपनाता है, और उसी कारण उन्मार्गमें चला जाता है; ऐसे जीवको अध्यात्म-विषयका निषेध वर्तता है।

स्वरूपकी अरुचिके कारण अन्य प्रवृत्ति संबधित कुतूहल और राग रहा करता है, और अंतर्मुखताका पुरुषार्थ... "बादमें करूंगा" ऐसे परिणाम रहते हैं।

आत्मकल्याणकी इच्छा अनंतकालमें अनंतबार होने पर भी और तद्अनुसार बाह्य क्रिया करने पर भी स्वरूपकी यथार्थ रुचिके अभावके कारण ही उसमें सफलता नहीं मिली है। इसे ध्यानमें लेने योग्य है।

स्वरूप-रुचिके कारण स्वरूपका बेहद आकर्षण रहता है; इसलिये बाकी सब सहजरूपसे विस्मृत हो जाता है। अरे! रुचि तो स्वयं अपनेको भी भूलकरके प्रवर्तती है; और रुचिके विषयमें कितना समय चला जाता है उसका भी ख्याल नहीं रहेता।

जिसको जैसी रुचि होती है, वह वैसी ही रुचिवालेका संग करता है। जिससे खुदकी रुचिको पुष्टि मिले। और ऐसे ही निमित्तोकी

कृत-कारित-अनुमोदना करता है। अगर उसमें कोई बाधक बने तो उसके प्रति उसको द्वेष होता है। इस कारणसे व्यक्तिकी योग्यता/रुचिका नाप उसकी संगत परसे निकलता है।

मृत्युके समय भी जिसकी रुचि होती है उस विषयकी मुख्यतावाले परिणाम सहज ही उत्पन्न हो जाते हैं।

ऐसे दुषमकालमें अध्यात्मकी ऐसी सूक्ष्म बात रुचे, यह विशेषता है; उसे ज्यादा भव नहीं होते।

मिथ्यात्व तीव्र होनेसे जीवको दोषकी रुचि होती है, तब वह खुदके दोषका बचाव/रक्षा करता है, और जिसका पक्ष होता है उसके दोषका भी बचाव/रक्षा करता है, फलस्वरूप सदविचारबलका नाश होता है। जबकि दर्शनमोह का अनुभाग घटनेसे अथवा मिथ्यात्वरस घटनेसे जीवको गुणकी/स्वभावकी रुचि उत्पन्न होती है, वह जीव सम्यकूत्वका अधिकारी होता है। रुचि बाधक कारणोंको फटाफट हटाकरके, खुदके विषयको ग्रहण करती है।

अनादिसे (पर्यायका वेदन होनेसे) जीव पर्याय जितना ही खुदको अवधारण करके पर्यायबुद्धि होता हुआ, पर्यायमात्रमें रुचिके कारण मूर्छित होता हुआ पर्यायमूढ हुआ है; इसलिये उसको निश्चयस्वरूपकी अरुचि वर्तती है। पर्यायकी रुचिके कारण राग और परकी रुचि सहज होती है, जो सर्व प्रकारके दोष और दोषकी परंपराके सर्जनका मूल कारण है।

यथार्थ रुचिके सदभावमें जीवके अन्य परिणाम भी तद अनुसार आत्मरसवाले होते हैं। साथ ही साथ ज्ञानमें स्वभावकी मुख्यता-निश्चयका पक्ष अभेदभाव साधनेका कारणभूत होता है। और सहजरूपसे स्वरूपका चिंतन, मनन, भावना और लगनीवाला घोलन इत्यादि परिणाम उल्लसित भावसे और धगशसे निरंतर चलते रहते हैं – जैसे कि रुचि सर्वगुणोंके परिणामोंको स्वभावकी ओर खींचके लाती न हो!

अंतमें यह रुचि सम्यक्श्रद्धाकी पूर्वभूमिकामें कार्य करता हुआ परिणमन है। सम्यक्श्रद्धा स्वभाव-सत्ताको तादात्म भावसे ग्रहण करती है, जिसका प्रयास रुचिके कालमें (Prestage of getting Self Exestance) स्वसत्ताको ग्रहण करनेकी वृत्तिरूप वर्तती दशाके रुपमें होती है।

□

सत्पात्रता

पूर्वके तदनुकूल महत् पुण्य-योगसे 'सत्पुरुषका योग' जीवको अनन्त कालमें, दुर्लभ होने पर भी, अनेक बार हुआ है। परन्तु उस योगके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण और स्वयंकी बोधबीज योग्य भूमिका व पात्रता नहीं होनेसे, वह योग/सत्संग निष्फल हुआ है। अतएव विषय-प्रवेश हेतु—निजावलोकनार्थ पात्रता व मुमुक्षुकी यथार्थ भूमिका विषयक यत्किंचितं विवरण यहाँ प्रस्तुत है—

जीव किसी बाह्यक्रिया-कांडसे या शास्त्र-पठनसे मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता है, एकमात्र 'पात्रता'से ही पाता है। अतः पात्रताका महत्त्व समझना योग्य है।

मुमुक्षु जीव—विचारवान जीवको सर्व प्रथम इस अति महत्त्वके विषयका गंभीरतासे सांगोपांग विचार-मंथन कर, इसका यथातथ्य मूल्यांकन कर, सर्व उद्यमसे पात्रतामें आना योग्य है; तभी मार्ग-प्राप्ति सुलभ होगी, मार्ग-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है।

कोई भी जीव जब निज-हितके लिए तत्पर होता है तो उसे पात्रता शीघ्र प्रगट होती है, तदर्थ कोई पूर्व क्रम नियत नहीं है, यह इस मार्गकी बहुत बड़ी सुविधा है। "निज-हितकी जितनी जरुरत-उतनी पात्रता विशेष"—यही पात्रताका परिमाण है। पात्रताके लक्षण :—

१. जिसे एकमात्र निजस्वरूपके अतिरिक्त जगतसे कुछ भी नहीं चाहिए—यह विशिष्ट प्रकारकी पात्रता है।

२. सत्पुरुषके चरणोंका इच्छुक, एकनिष्ठासे सत्पुरुषकी आज्ञा शिरोधार्य करनेवाला ही वर्तमान पात्र है।

३. क्षयोपशमज्ञानसे सम्मत किये बोधको शीघ्र प्रयोगमें लानेवाला भी वर्तमान पात्र है।

४. 'स्वभाव' सुनते ही रुचिको पोषण मिले, वृद्धि होवे। स्वभावको प्राप्त किये बिना कहीं भी चैन न पडे, सुख न लगे, उसे लेकर ही छोडे—ऐसी वृत्तिवाला जीव वर्तमान पात्र है।

५. पात्र जीवको स्वरूप विचार, चिंतन आदि चलने पर भी स्वानुभवके अभावकी खटक और असंतोष बना रहता है।

६. अनेक प्रकारके मोहासक्ति जन्य परिणाम होने पर उनमें उलझनका अनुभव होना, यह पात्रताका सूचक है।

७. गुणसे उत्पन्न सुखकी रुचिवाला और गुणग्राही।

८. उदयभावमें कहीं न रुचे, इसलिए उदयभावोंमें जोर-उत्साहका अभाव।

९. जिसको दर्शनमोह मंद (शिथिल) होनेसे पदार्थके यथार्थ निश्चय करनेकी क्षमता प्रगट हुयी है।

१०. शास्त्रवचनोंकी यथार्थ जानकारी सहित यथायोग्य स्तरके व्यवहार-परिणाम होने पर भी उनका रस न चढ़ जावे, ऐसी जाग्रति वर्तती हो।

११. जगतकी मान-सम्मानवाली वस्तुओं और बातों-प्रसंगोंकी महिमा जिसे न आती हो।

१२. उपकारी सत्पुरुषके प्रति अत्यंत भक्तिवंतता।

१३. विषय-कषायके तीव्र-अहितरूप परिणाम होने पर जिसे धबराहट होती हो।

१४. प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत विषयोंका अन्तर समझनेकी क्षमतावाला।

१५. अप्रयोजनभूत विषयोंके प्रति उपेक्षा-उदासीनता वर्तती हो व प्रयोजनभूत विषयोंकी गहराईसे गवेषणा हेतु तत्परवृत्तिवन्त और निज प्रयोजनको सिद्ध करनेका पुरुषार्थी।

१६. प्रतिकूल प्रसंगमें जिसके परिणाम खराब—कुमार्गगामी न हो और सहज आत्महितमें जाग्रत रहे।

१७. भवभ्रमण-भीतिवन्त अर्थात् स्वयंके प्रति (जन्म-मरणके दुःखकी) जिसे दया (स्वदया) उत्पन्न हुयी हो।

१८. आत्म-लक्ष्यी परिणामवाला।

१९. भावना-प्रधान परिणामवाला, अर्थात् भीगा हुआ-सिक्त हृदयवन्त—स्वरूपकी अपूर्व भावनावाला।

२०. मध्यस्थ-निष्पक्ष ज्ञानका गवेषी व मात्र सत्यका आग्रही तथा अभिलाषी।

२१. स्वरूप-भावनापूर्वक अन्तरमें मार्गका शोधक—भवचक्रसे छूटनेके मार्गकी शोध करनेवाला।

२२. स्वयंकी गुरुताका गोपन करनेवाला।

२३. उदय-प्रसंगोंमें अपना समय बरबाद न करनेवाला।

२४. परमार्थकी बात सुनते ही चोंट-गहरी चोंट लगनेवाला।

२५. निरन्तर सत्की शोधकवृत्तिवाला।

२६. भवका अभाव किये बिना आयु व्यतीत होनेकी चिंता-खेदके परिणाम होना ।

—इसके अतिरिक्त मुमुक्षुकी यथार्थ भूमिका, जो धर्म-प्राप्तिके लिए अति महत्त्वपूर्ण है, विषयक लक्षणोंका विवेचन स्वहितार्थ अवगाहन हेतु यहाँ संक्षेपमें प्रस्तुत है :—

१. जिसे एक मात्र मार्ग-प्राप्तिका ही लक्ष्य हो।

२. जिसे अनन्त जन्म-मरणसे—परिभ्रमणसे मुक्त होनेकी वेदना सहित अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न हुयी हो।

३. जिसका संयोगी पदार्थोंकी प्राप्तिका ध्येय न हो; परन्तु परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशा प्राप्त करनेका ध्येय हो।

४. अन्तरकी गहराईमेंसे स्वरूप प्राप्तिकी अपूर्व भावना, जिसकी उत्पत्तिमें कोई राग-द्वेषकी भूमिका न हो—ऐसी वीतरागी भाव-भूमिका (अभिप्राय)के आधारसे उदित हुयी भावनावाला।

५. पूर्णताके ध्येय-प्रति पूरी लगनसे प्रवर्तन करना।

६. अत्यन्त उत्साह और दृढ निश्चयपूर्वक आगे बढ़नेकी प्रवृत्तिवाला।

७. 'पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत'के अभिप्रायसे निज-प्रयोजनके प्रति सहज, सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टिपूर्वक प्रवृत्ति होना।

८. सम्यक्त्वकी पूर्व भूमिकामें—स्वभाव-अनुलक्ष्यी उच्चकोटिके शुभ विकल्प होने पर भी, अनुभूतिका अभाव होनेसे, अन्तरमें उसकी खटक रहना।

९. परिणतिमें राग-रसरूप रंजितपना घटनेसे व दर्शनमोह-रस शिथिल होनेके कारण-मुमुक्षुके योग्य भूमिकाका ज्ञान निर्मल होनेसे, सत्पुरुषके वचनों-शास्त्र वचनोंके अवगाहनमें यथार्थता, अध्यात्मतत्त्वका रस और रुचि आदिका होना।

१०. स्वकार्यकी उत्कण्ठा।

११. उदय-कार्य बोझारूप लगे। प्रवृत्ति करनी पड़े तो उसमें त्रास/थकान लगे और अरुचिके कारण उदय जनित परिणामका बल मन्द होता जाए ।

१२. सत्समागममें प्रयोजनभूत विषय आनेपर रस वृद्धिगत हो जाए।

१३. अन्तर-संशोधन-अन्तर-अवलोकनपूर्वक तत्त्वज्ञानका अभ्यासी।

१४. 'इस जगतमेंसे कुछ भी नहीं चाहिए, मात्र एक आत्मा ही चाहिए'—ऐसा दृढवृत्तिवंत।

१५. तत्वज्ञान-समझन/वाच्यको शीघ्र प्रयोगकी सान (कसौटी) पर चढ़ाकर, अपनी समझको यथार्थ करनेमें रत रहना।

१६. उदयके कार्योंमें (करने पडें, उनमें) अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो रहा है—ऐसा लगना/अभिप्राय रहना।

१७. वर्तमान परिणमनमें मार्गकी समीपता आदि विकास होने पर भी, पूर्णताका लक्ष्य होनेसे, उससे संतोष नहीं हो; बल्कि प्राप्त गुण गौण हो जायें और उच्च दशा/पूर्णताकी अभिलाषा तीव्र होती जाए।

१८. गुणोंकी ही महिमा और मुख्यता रहे।

१९. स्वरूपकी गहरी जिज्ञासावश सर्व उदयप्रसंगोंमें चित्त न लगना और नीरसवृत्ति रहना।

२०. तीव्र और गहरी रुचिपूर्वक प्रयोजनभूत विषयको सूक्ष्म उपयोगसे ग्रहण करनेवाला।

२१. मूल वस्तुस्वरूपको गहन मन्थनपूर्वक समझनेकी पद्धतिसे जिसकी आत्मरुचि पुष्ट हो।

२२. सत्पुरुषोंके वचनोंमें सन्निहित अनुभवकी विधिकी गम्भीरताको गहन चिंतनपूर्वक शोधनेकी वृत्तिवाला हो और जिससे सत्पुरुषोंके वचनोंमें छिपे हुए पारमार्थिक रहस्यको समझनेकी क्षमता हो। सत्पुरुषोंकी अन्तर परिणतिकी पहचानसे जिसे उनकी महिमा हृदयंगम हुई हो।

२३. सम्पूर्ण शक्ति द्वारा (शक्तिका गोपन किये बिना) समग्ररूपसे, वेगसे, उल्लासपूर्वक प्रयत्नवान/पुरुषार्थी।

२४. भेदज्ञानका प्रयास करनेवाला हो, और जब उसे विकल्प-मात्रमें अन्तरसे दुःखका वेदन होने लगा हो, और उसके परिणाममें आत्मस्वभावके विकल्पसे भी हटनेका ढलन उत्पन्न हो गया हो। (—यह स्थिति अनुभवके समीपवर्ती जीवकी होती है।)

२५. उदयभाव भाररूप लगे, जिससे किसी भी प्रसंगमें उसे कहीं न रुचता हो।

२६. स्वकार्य "पीछे करूँगा"—ऐसा प्रकार परिणाममें न रहना; बल्कि अभी ही होता हो तो... बिना विलम्ब किये तत्पर होना, अर्थात् शीघ्रता-सावधानीमें "पीछे करूँगा"—ऐसा अरुचिसूचक प्रकारका न होना।

२७. प्रत्यक्ष-योगमें सत्पुरुषके सर्व विकल्पका अनुसरण करनेका भाव रहे, एक निष्ठासे आज्ञाका आराधन करनेके भाव रहे, अर्थात् सर्वार्पणबुद्धिसे वर्तता हो।

२८. स्वयंको गुण-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे-अन्यमें गुण दिखलाई दें...तो उसके प्रति सहज प्रमोदभाव होना।

२९. अन्तरमें निवृत्त होकर स्वकार्य करनेका संकल्पी व उत्साही।

३०. सैकडों-हजारों विकल्पोंकी परम्पराका मूल (सर्जक) अब्रह्मचर्य है, अतएव विकल्प-जालकी वृद्धि रोकनेवाले—ऐसे ब्रह्मचर्यकी चाहवाला।

३१. अपने दोष टालनेके दृष्टिकोणपूर्वक—अपने दोषको अपक्षपातरूपसे देखनेकी प्रवृत्ति होना। ज्ञानमें ऐसी मध्यस्थता हो कि जिससे स्वच्छन्द उत्पन्न न हो सके।

३२. जिसे एकान्तवास प्रिय हो। (क्योंकि बहुजन परिचयवृत्ति आत्म-साधनाके प्रतिकूल है।)

३३. आहार-विहार-निहारका नियमी हो—जिसके कारण देहाश्रित-बाह्यभाव नियमित (मर्यादित) होवें। उपर्युक्त विषयमें अनियमितता—तीव्र राग-रसको लेकर सहज प्रवर्तती है—ऐसे प्रकारका अभाव हो; क्योंकि 'आत्मार्थी सहज वैराग्यवान होता है।'

३४. आत्मार्थी जीव सामान्य जनोंसे विशेष योग्यतावान होने पर भी वह मान-प्रसिद्धिसे दूर रहना चाहता है और अपनी महत्ताका सहज गोपन करता है।

३५. जिसे मोक्ष और मोक्षमार्गका महत्त्व वास्तविकरूपमें समझमें आया हो। (चारोंगतिके सर्व दुःखसे निवृत्ति और अनन्त समाधिसुखरूप मोक्षदशाकी व उसके साधनरूप मोक्षमार्गकी कीमत समझकर जिसे उनके प्रति आदरबुद्धि उत्पन्न हुई हो।)

३६. आत्म-जाग्रतिका उत्पन्न होना, अर्थात् जाग्रतिपूर्वक निजभावोंका सूक्ष्मरूपसे अवलोकन होनेसे पर-रस/राग-रसमें कमी होना।

३७. शास्त्रोंमें आनेवाले सभी न्यायों व अनेक अपेक्षित कथनों और विभिन्न प्रकारकी कथन-विवक्षाओंको निज-प्रयोजनकी दृष्टिपूर्वक समझनेकी पद्धतिका होना। (जिससे समझमें विपर्यास या अन्यथापन न हो सके।)

३८. स्वकार्य करनेकी छटपटाहट/तड़फनके कारण अन्य उदयमान प्रसंगोंमें निरुत्साहीभावसे जुड़ना/भाग लेना।

३९. गति-निःशंकता, अर्थात् आगामी भवमें नीच गति—नरक या तिर्यंच होने सम्बन्धी शंका भी जिसे न पडे, अपितु स्वयंकी मुक्तदशाकी योग्यता विषयक निःशंकता वर्ते।

४०. जिसे अन्य द्रव्य-भावमें सुखकी कल्पनाका स्वरूप/कारण भलीभाँति समझमें आया हो, और तदर्थ निवृत्ति हेतु प्रयत्नवान हो; जिससे जगतके किसी पदार्थमें गहरे-गहरे तनिक भी सुखकी कल्पना/वासना न रह जाये अथवा कोई भी इन्द्रिय विषयकी 'अपेक्षा' परिणतिमें न रहा करे। वैसे ही शुभपरिणामोंमें या सातावेदनीयके उदय कालमें 'आश्रयबुद्धि' न रह जाये।

४१. 'स्वच्छन्द' महादोष है, जो आत्मार्थीकी भूमिकाको नष्ट करनेवाला है—जिसके लक्षणोंको अनेक पहलूओंसे समझकर—उनको टालनेका, अथवा उस प्रकारके (स्वच्छन्द-जन्य) परिणाम जिसे न रहते हों उनका, यत्किंचित् विवरण निम्न है :—

(i) पर-लक्ष्यी शास्त्रज्ञानके क्षयोपशमवश "मैं समझता हूँ"—ऐसा अहंभाव, तथा इस प्रकारके अहंभाववश ज्ञानीके बचनोंकी तुलना अपने सदृश करनी।

(ii) स्वयंके दोषका पक्ष/बचाव करना अथवा अन्यके दोषका, राग-ममत्ववश पक्ष/समर्थन/बचाव करना।

(iii) सत्पुरुषके वचनमें भूल देखने या भूल ढूँढनेके परिणाम होना।

(iv) सत्पुरुषके वचनमें शंका होना।

(v) 'मान-प्रकृति'—जहाँ-जहाँ मान प्राप्त हो वहाँ-वहाँ आकर्षण रहे या रुचे। मानार्थ—मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति होना। समाजकी मुख्यतावश आत्म-साधन गौण करना (इसे शास्त्रमें लोकदृष्टि बताया है।) जहाँ बहुमान हुआ हो या होता हो उस समूहमें अपना मान-स्थान बना रहे—ऐसा अभिप्राय या परिणति रहे। तदनुसार शुभ (?) अथवा अनैतिक-अशुभ प्रवृत्ति स्वच्छन्द तीव्र होने पर होती है।

(vi) सत्पुरुषके उपकारकी अवहेलना करना।

(vii) सत्पुरुषके वचनामृत-प्रति अचल प्रेमका अभाव होना।

(viii) विद्यमान सत्पुरुषके प्रति परम विनय-अत्यन्त भक्तिका अभाव। (मात्र सामान्य विनय भी योग्य नहीं है।)

(ix) सत्पुरुषोंके उदयभावों-प्रवृत्तियोंका लक्ष्य कर—उस सम्बन्धमें

अपने समान कल्पना करना।

(x) सत्पुरुषके बाह्य आचरणमेंसे चारित्रमोहजन्य दोषको मुख्य करना।

(xi) बाह्यज्ञान-शास्त्रकी धारणाके प्रति प्रेम/झुकाव/मुख्यता होना। (इससे मार्गकी अन्तरमें सूझ नहीं पडती है।)

—उपर्युक्त प्रकारके परिणाम स्वच्छन्दताकी तीव्रता या मन्दताकी विद्यमानताके द्योतक है।

४२. असरलता, हठाग्रह और जिद आदिके परिणाम न रहना। क्योंकि परम सरलतारूप अन्तर्मुखी बलनमें असरलतादि भाव अवरोधकरूप है।

४३. क्षयोपशम विशेष हो तो भी बड़प्पनकी आकांक्षा नहीं रहे।

४४. परम्परा और क्रियाकांडका आग्रही न हो।

४५. ज्ञानीके वचनोंका कल्पित अर्थघटन नहीं करना।

४६. सत्पुरुषसे विमुख वर्तन किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं हो, तदर्थ अपकीर्तिभय-समाजमय आदि सर्वको गौण करे। इस संदर्भमें पू० श्रीमद् राजचन्द्रजीका उपदेशामृत उल्लेखनीय है—"प्रत्यक्ष सत्पुरुषसे विमुख वर्तना अथवा उपेक्षितभावसे वर्तना, यह प्रगट अनन्तानुबन्धी कषाय है।"

४७. प्रमाद, अर्थात् स्वकार्य हेतु उल्लसित वीर्यका अभाव रहना—ऐसेमें परिणाम ऊपर-ऊपरसे तो शांत (कषायकी मन्दतावाले) दिखाई देते हैं, पर वे कषायके भारसे प्रमादी है।—ऐसे प्रमादी परिणाम न रहना।

४८. शास्त्र-अध्ययन, तत्त्व-श्रवण, तत्त्व-चर्चादिमें ऐसा प्रकार न हो कि जिससे विकल्प वृद्धिगत हो जाएँ; और अधूरा निश्चय, अपरिपक्व विचारदशापना, शंकाशीलता या विभ्रम उत्पन्न हो, कुतर्क सूझे या भावोंमें डाँवाडोलपना/चंचलता रहे।

४९. लौकिक और शास्त्रीय अभिनिवेशसे दूर रहे, जिसका स्वरूप निम्न है :—

(i) लौकिक अभिनिवेश :—लोकमें जो-जो वस्तुएँ या बातें बडप्पनके साधनरूप कारणोंमें गिनी जाती है—उनमें माहात्म्यबुद्धि होना लौकिक अभिनिवेश है।

(ii) शास्त्रीय अभिनिवेश :—आत्मार्थके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारकी शास्त्रीयमान्यता-शास्त्रज्ञान-धारणाज्ञान आदिमें संतुष्ट होना अथवा

अप्रयोजनभूत विषयक ज्ञानसे अपनी महत्ता-पोषणसे आत्मार्थ गौण हो जाना—(प्रशस्त) शास्त्रीय अभिनिवेश है। और विद्यमान सत्पुरुषके समागमको गौण कर अपने शास्त्र-अध्ययनकी तुलना तद्समान करना अथवा शास्त्रको ऊँचे गुणस्थानवर्ती पुरुषके वचन मानकर, विशेष वजन देना—(अप्रशस्त) शास्त्रीय अभिनिवेश है। (उल्लेखनीय है कि यहाँ शास्त्रकी मुख्यता होते हुए भी "अप्रशस्त" विशेषण लगाना, वचन-गम्भीरता है। क्योंकि ऐसे भावोंमें वर्तनेवाले जीवको अवश्य ही कोई न कोई अप्रशस्त (लौकिक) प्रयोजन (आशय) प्रवर्तता है।—ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका आकलन/निर्धारण-विशिष्ट विधान है, जो सिद्धान्तरूप है।

५०. ज्ञानस्वभावी आत्मा "मात्र ज्ञान"से ही ग्राह्य है / अनुभव योग्य है। इसके सिवाय अन्य कारणसे—कोई भी प्रकारके शुभराग या पराश्रित बाह्यज्ञानसे ग्रहण योग्य नहीं है। अभिप्रायमें उक्त "विधि" विषयक तनिकसा भी अन्तर हो तो वहाँ विपरीत अभिनिवेश हो जाता है। परन्तु यथार्थतामें "विधि" सम्बन्धी विपरीतता नहीं रहती है।

५१. 'विपरीतताका परिहार होने पर ही यथार्थपनेकी सिद्धि, अर्थात् उपलब्धि होती है'—जिसकी जाग्रति सतत रहे, अर्थात् विपरीत अभिनिवेश रहित पूर्वक देव-गुरुको—शास्त्र-सत्पुरुषके प्रति वर्तन रहना। इसी भाँति अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धि अथवा एक तत्त्वमें अन्य तत्त्वका अध्यास (अन्यथा भासित होना) विपरीत अभिनिवेशको प्रदर्शित करता है। परन्तु यथार्थतामें ऐसा प्रकार नहीं होता है। उसे तो—

कुदेवमें देवबुद्धि-लाभबुद्धि नहीं होती। सर्वज्ञ व उनकी प्रतिमाजीकी स्थापनादिके प्रति अनादर, अविवेक या निषेध नवकोटिपूर्वक नहीं आता। क्योंकि कोई भी लौकिक कारणवश उनके निषेध-अवगणनाके भावमें तीव्र मिथ्यात्वरूप महादोष उत्पन्न हो जाता है।

ऐसे ही भावलिंगी गुरुके अतिरिक्त किसीमें भी गुरुबुद्धि नहीं होती है। द्रव्यलिंगी या लिंगाभासी अथवा अन्यलिंगीके प्रति पूज्यबुद्धि-धर्मबुद्धिपूर्वक किसी भी योगसे प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति विपरीत अभिनिवेश-सूचक है।

इसी भांति सत्शास्त्र और कुशास्त्रका विवेक वर्तता है। कुशास्त्र, अन्यमतके शास्त्र अथवा मिथ्यादृष्टि द्वारा रचित शास्त्रके प्रति श्रद्धाविनय रख कर, सत् शास्त्र पढे-सुने तो वह भी विपरीत अभिनिवेशयुक्त प्रवृत्ति है।

इसी प्रकार सत्पुरुषके प्रति श्रद्धा-विनय रखते हुए भी असत्पुरूषमें, उनके वचनमें श्रद्धा-विनय करनेसे अयथार्थता, अर्थात् विपरीत अभिनिवेशकी उत्पत्ति होती है। परन्तु यथार्थ भूमिकावालेका ऐसा वर्तन नहीं होता है।

५२. संदिग्ध अवस्थाका न रहना। संदिग्ध अवस्थावश—ज्ञानप्राप्ति हेतु अनेक ग्रन्थोंके अध्ययनसे कई प्रकारके संदेहका उद्‌भव होता है, फलस्वरूप प्रयोजनभूत विषयके प्रति लक्ष्य नहीं जा पाता है; प्रायः अप्रयोजनभूत विषय पर वजन रहता है और उन्हींमें उलझ/अटक जाता है। संदिग्ध अवस्थाकी स्थितिमें—सत्पुरुषका प्रत्यक्ष समागम होते हुए भी उनकी पहिचान नहीं हो पाती। गहरे गहरे सत्पुरुषके मन-वचन-काययोग-उदयजन्य परिणामके प्रति संदेह (शल्य) रहता है, अथवा कहीं कोई अविश्वास-अप्रतीतियोग्य बात लगती है, खटकती है।

५३. ज्ञानके भेद-प्रभेदमें (—गुणभेद, पर्यायभेद, अनेक प्रकारके न्याय, नयज्ञान, कर्मबन्ध-उदय-सत्ता आदिके भेदोंमें) रुचि होनेसे 'अभेद'-'परमार्थ' विषयमें रस न उत्पन्न होना—ऐसा प्रकार जिसे न हो।

५४. शास्त्रके धारणाज्ञान-बाह्यज्ञानसे स्वयंमें ज्ञान-प्राप्ति मान लेना, सम्यक् परिणमनके अभावमें भी स्वयंकी महत्ता-विशिष्टता मानना अथवा अन्य कोई ऐसा माने (वर्तन करे) तो रुचना और अपने ज्ञानके प्रदर्शनके भाव रहना—इत्यादि प्रकारका अतिपरिणामीपनारूप दोष जिसे न प्रवर्तता हो।

५५. ज्ञानके क्षयोपशममें निश्चय-व्यवहार आदि समझमें आने पर भी जहाँ तक मार्गकी विधि स्वयंको ग्रहण न हो अथवा साक्षात् अनुभूति न हो वहाँ तक जिज्ञासाका अभाव न वर्ते।

५६. देव, गुरु, शास्त्र और सत्पुरुष विषयक किसी भी प्रवृत्तिमें स्वयंके मानका लक्ष्य न रहे, न होवे। पू० श्रीमद्‌जीका वचनामृत अनुकरणीय है—"निंदा प्रशंसार्थे विचारवान जीव प्रवृत्ति न करे।"

५७. क्रिया-सम्बन्धी मिथ्या आग्रह न हो कि जिससे असत् अभिमान अर्थात् देहात्मबुद्धि दृढ हो जाए और व्रत-संयमादिकी दैहिकक्रियाको आत्मक्रिया समझ लेनेसे असत्‌में सत्‌का अध्यास हो जाए। अथवा मानार्थे कोई बाह्यक्रियाकी प्रवृत्ति न हो।

५८. बाह्य अनुकूलता (पुण्यके फल)की अभिलाषासे अथवा सिद्धि मोहरूप निदान-भावपूर्वक क्रिया नहीं करे।

५९. वहिर्लक्ष्यी जानकारी हेतु अथवा अन्यथा प्रकारसे तत्त्वका ग्रहण होनेसे अकेला (भाव-भासन या ज्ञान-रस बिनाका) अध्यात्मचिंतवन अर्थात् शुष्क आध्यात्मिकता—सिर्फ विकल्प और अध्यात्मभाषा-शैलीका रस या वाणीका रस है—पौद्गलिक-रस है, जो कि अध्यात्मका व्यामोह है। यथार्थभूमिकावालेको ऐसी अयथार्थता नहीं होती।

—उपर्युक्त सर्व विवेचनका तात्पर्य यही है कि कहीं अंश मात्र भी विपर्यास नहीं रहे, ऐसी पूर्व भूमिका "महान सम्यक्त्व" योग्य होना अपेक्षित है। क्योंकि 'पात्रके बिना वस्तु नहीं रहती, पात्रमें ही आत्मज्ञान होता है।'—इसी गहन तथ्यका निर्देश स्वानुभव-विभूषित प्रशममूर्ति धर्मात्मा पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिनने अपने एक पत्रमें किया है, जो अवधारणीय है—**"हम लोग समकित...समकित तो करते हैं परन्तु योग्यता व पात्रताके बिना समकित किसमें समायेगा ?"** अतएव सुस्पष्ट है कि पात्रता और यथार्थ भूमिकामें आये बिना सम्यक्त्व-प्राप्तिकी आशा निरर्थक है, आकाश-कुसुमवत् है।

□

स्वाध्यायपद्धति

मुमुक्षुओंको सत्संगके हेतु सामूहिक स्वाध्याय कर्तव्य है। – ऐसी ज्ञानियोंकी सीख है। परन्तु सामूहिक स्वाध्यायमें क्षयोपशम विशेषको लेकर समझनेवाला और समझानेवालेका प्रकार उत्पन्न होता है इसलिये सामूहिक स्वाध्यायके प्रसंगमें ध्यानमें लेने योग्य कुछ एक अगत्यके मुद्दे निम्न प्रकारसे है।

(१) सम्यक् पहले उपदेशक भावसे या पद्धतिसे वाचन करनेमें, मार्गका विरोधपना है। क्योंकि – सर्वोत्कृष्ट उपदेशक जगदगुरु श्री तीर्थंकरदेव है और उनके बाद ज्ञानादि ऋद्धिवंत आचार्य-गणधरदेवादि निर्ग्रंथ गुरू है – गौणपने गृहस्थी सत्पुरुष है। परन्तु चौथे-पांचवें गुणस्थानवर्तीको सर्व विरती नहीं होने पर भी – पूर्णताका उपदेश देनेकी प्रवृत्ति विरोधाभासी दिखाव होनेके कारण खुदको खटकती है – ऐसा है; वहाँ मुमुक्षुको अभी मार्गकी, आत्माकी, तत्वकी और ज्ञानीकी पहचान नहीं है, उसको उपदेशक पद्धति न आ जाय उसकी कितनी सावधानी रखनी चाहिये ? यह विचारने योग्य है। (देखो : 'श्रीमद् राजचंद्र' पत्रांक : ८३७)

(२) परमार्थमार्गके अनुसरणके हेतुभूत ऐसे सत्पुरुष प्रति प्रमोदभावना, अविरोधभाव, भक्ति आदि होनेके लिये सत्पुरुषके गुणग्राम करना, उनके वचन ग्रहण करनेकी आत्मवृत्ति उत्पन्न हो, आश्रयमें रहनेकी भावना हो, – इस प्रकारसे स्वाध्याय करना।

(३) स्वाध्यायका मुख्य विषय : मुमुक्षुकी ज्ञानप्राप्ति के लिये यथार्थ भूमिका – पात्रता पर वजन देना। वाचनकारको 'स्वलक्ष से' – उस विषयके रसका आविर्भाव करनेसे खुदको उपकारी होगा – इस हेतु जिस किसी ग्रंथमें पात्रताका विषय आया हो उसका अनेक पहलूसे परिचर्यन करना।

(४) **वाचनकारकी योग्यता :**

(१) आजीविका या किसी लौकिक कार्यकी अनुकूलताकी इच्छा (आशा-प्रयोजन-लोभ) अंदरमें न हो; तीव्र लोभी तो न ही हो।

(२) व्यवसाय आदि कार्योमें लोकनिंदा कार्यो की प्रवृत्ति न हो

– लोकमर्यादामें वर्तता हो।

(३) अनेक प्रकारसे पात्रता हो। (आत्मार्थीता, सत्पुरुषके प्रति भक्तिवंत इत्यादि।)

(४) अध्यात्मरस-शांतरस प्रधान मृदुभाषी हो। मर्मज्ञ अथवा मर्म-जिज्ञासा प्रधान हो।

(५) धर्म बुद्धिमान हो, सिर्फ परंपरा चलाने हेतु वाचन न करे।

(६) सप्तव्यसनादि निंद्य कार्योका त्यागी और अनीतिका त्यागी।

(७) शास्त्र-सिद्धांतका मर्म-वीतरागता-स्वभावकी स्वतंत्रताको समझता हो।

(८) तर्क लडाके, वाद-विवादका अभिप्राय न हो। हास्य न हो।

(९) स्वयंका जानपना दिखानेका अभिप्राय न हो।

(१०) वाचनमें सुना सकेंगे – इस हेतुसे धारणा न करें।

(११) अध्यात्मविद्याका रसिक, संसार रस, लौकिक विद्याका रस छूटा हो।

(१२) जैनमुनि/आचार्य/श्रीगुरुके उपदेशको कहनेवाला हो।

(१३) मानादिकसे दूर रहनेवाला हो। समाज तो मान देगा-जबरदस्ती करें तो वहां जागृत रहे। तीव्र मानी तो होना ही नहीं चाहिये।

(१४) स्व-पर हितका लक्ष रखकर बोलें। कषाय रखकर, या किसीको लक्षमें रखकर मत्सरभावसे न बोले – मात्र खुदके आत्मार्थके लिये वाचन करे।

(१५) जैन धर्मका – देव-शास्त्र-गुरू-सत्पुरुषका दृढ श्रद्धालु हो तो ही - ऐसी दृढता व्यक्त हो और अन्यको श्रद्धालु बना सके।

(१६) शास्त्रोंके कथनोंकी विवक्षा – निश्चय-व्यवहारादि समझनेकी शक्ति हो। व्याख्यानके अभिप्रायको न पिछाने तो कहनेवालेका प्रयोजन न समझे और अन्य प्रयोजन बताकर विपर्यास खडा करें – विसंवाद खडा हो जाय।

(१७) ज्ञानाभ्यासी हो। शास्त्र वाचनके योग्य बुद्धि प्रकट हुई हो।

(१८) "कहीं भी सिद्धांत टुटे तो जिनाज्ञा भंग हो जाय" उसका बहुत भय हो, ऐसी जिम्मेदारी समझता हो। सूत्र-विरुद्ध कथन करनेसे बहुतोंका बुरा हो जायेगा, खुदकी ऐसी क्षतिके कारण अपकार होगा – ऐसा जोखिम समझकर, भवभीरू हो।

(१९) तीव्र क्रोधी हो तो थोडी प्रतिकुलता भी चला नहीं सकें – इसलिये निंदाके पात्र होता है।

(२०) अलग अलग किसी भी प्रकारके प्रश्न आने पर – वहाँ विचारपूर्वक शांतिसे, मिष्टवचनसे, संदेह-परेशानी दूर हो – इसप्रकार समाधान करे। उत्तर न दें सके तो खुदके अज्ञानको छीपायें नहीं, छीपानेके लिये अन्यथा या विरूद्ध उत्तर नहीं दे।

(२१) शांत व्यक्तित्व और गुणवानपनेसे समाजमें प्रिय हो।

(२२) कठोर प्रश्नकारको धीरजसे सहन करनेवाला हो। प्रश्नकारके अभिप्रायको पकडकर प्रश्नके पहले ही उत्तरके लिये तैयार हो।

(२३) न्याय-व्याकरणादिसे महान शास्त्रोंका ज्ञान अगर हो तो ज्यादा अच्छा।

(२४) बातचीत-वर्तनमें सदाचार, सरलता, विनय रखना चाहिये।

(२५) (A) नीरसताके हेतु सादा आहार लेना।

(B) पर्वप्रसंगोमें, तिथिमें हरी सागसब्जीका त्याग।

(C) रात्रिभोजनका त्याग।

(२६) वाचनमें अन्यकी टीकासे दूर रहना। खुदके घरकी छोडकर दूसरेके घरकी बात करनेका रस नुकसान करता है; यह लक्षमें रखना।

(२७) शास्त्रके चलते हुए विषयसे विषयांतर नहीं करना, विषयांतर न हो जावे (कोई दूसरे विषयमें विषयांतर करनेका प्रयत्न करे तो भी) उसकी जागृति-सावधानी रखना।

(२८) (सम्यकूदृष्टिके चारित्रमोहके) चक्रवर्ती आदिके दृष्टांतसे विषयकषायको अनुमोदन-पोषण मिले ऐसी पद्धतिसे प्रतिपादन न हो वह ध्यानमें रखना।

(२९) स्वरूप अनुसंधान-शुद्ध स्वभावके अनुसंधानके प्रयत्नके साथ अध्यात्मविषयमें प्रवेश करना – जिससे स्व-परको अध्यात्मतत्त्वका रस उत्पन्न होनेका कारण बने।

(३०) श्रोताओंकी प्रशंसा मिले, उन लोगोंकी नजरमें विशिष्ट स्थान पैदा हो, वे लोग प्रभावित हो ऐसी दृष्टिरूप लोकसंज्ञा छोडकर वाचन करना।

(३१) मात्र रटा हुआ – धारणाज्ञानवाला – नीरस वक्तव्य नहीं होना चाहिये।

(३२) अगंभीरतासे वाचन नहीं करना अथवा अगंभीरतासे सदाचाररूप

क्रियाके निषेधात्मक वचन करते समय शुद्ध भावक्रियाका स्थापन करना अथवा ज्ञान-क्रियाकी सुसंगतताका स्थापन करना – जिससे कहीं भी एकांतमें न सींच जाये, स्वच्छंद न हो जाय।

(३३) किसी भी स्तरके सिद्धांतका स्थापन करनेपर, संभवित विकृति उत्पन्न हो – उसके भयस्थान इंगित करना। निश्चयाभास, व्यवहाराभास उभयाभास एवं अन्य प्रसिद्ध सिद्धांत अन्यथा ग्रहण होने पर विकृति उत्पन्न होती है, उसकी चर्चा करना।

(३४) पुरुषार्थप्रधान और भावनाप्रधान वक्तव्य रखना।

(३५) दृष्टांतको बहुत बढा-चढाकर नहीं कहना उससे प्रायः सिद्धांत प्रतिका जोर कम हो जाता है – इसलिये सिद्धांत पर एकाग्र होना – वजन जाना चाहिये।

(३६) वर्तमानमें उपकार हो ऐसे प्रयोजनभूत विषयकी मुख्यता करना – अप्रयोजनभूत विषयकी मुख्यता नहीं करना इत्यादि।

(३७) वाचनकारको स्वयंका स्वतंत्र चिंतन, मंथन होना जरूरी है।

(३८) **स्वलक्षी वाचन-पद्धतिका प्रकार रखना। जैसे कि :**

(i) उपदेश वचनसे मुख्यरूपसे अंतरंगमें खुदके जीवको संबोधित करना।

(ii) भूलोंका और दोषोंका वर्णन करते समय खुदके जीवको अनादिसे इसी प्रकारके कारणोसे मार्ग प्राप्त नहीं हुआ या मार्गसे वंचित रहा।

(iii) जिस मार्गसे दूसरेको भी छुडाना योग्य है ऐसे मार्गका स्वयं कैसे सेवन करे ?

(iv) जो बात स्वयं मुझे अच्छी न लगें अथवा अच्छी नहीं लगती है वह आप भी विचार करके मान्य करो।

(v) जिस बात को अंगीकार करना हो उस विषयमें प्रयोग करके समझाना। वक्ताको बिलकुल अपरिणामी रहकर उपदेशात्मक बात करना योग्य नहीं है। क्योंकि अपरिणामी रहकर उपदेशक होनेमें अनर्थकी उत्पत्ति होती है।

(vi) जो बात खुद करे उसमें निःशंक हो वही करे। जिस विषयमें शंकामें गोते खा रहा हो उस बातका निरुपण न करे।

(vii) शास्त्रके जिस विषयसे खुद अनजान हो वहाँ अनजानपने

का सरलतासे स्वीकार करे।

(viii) कभी भी आत्मश्लाघा न करे और दूसरेकी नींदा न करे। परन्तु खुदके आत्महित के विषयमें तीक्ष्ण एवं हो सके उतना सूक्ष्म दृष्टिकोण रखना जिससे कि अनेक प्रकार के संभवित दोषोंसे वक्ता सहजरूपसे अपनेआप बच जायगा।

(ix) खुदकी दशाको लक्षमें रखकर 'निरुपित उपदेश' खुदको अंगीकार करनेका लक्ष रखना।

(३९) कोई व्यक्तिगत आक्षेप कभी भी नहीं करना चाहिये। उसके उपरांत किसीका भी मजाक या किसीकी गुप्त बात खुल्ली नहीं करना।

(४०) वाचनकारको शांतिसे और वात्सल्यमय ध्वनिसे वक्तव्य देना चाहिये।

□

विवक्षा-छत्तीसी

प्रयोजनवश जिनागमके विषयमें स्याद्वाद कथनपद्धतिके अनेक प्रकार हैं, उसमें कहनेके लिये निर्धारित प्रयोजनको "विवक्षा" कहते हैं। समस्त विवक्षाओंका केन्द्रस्थान 'मूल शुद्धात्मस्वरूप' दर्शनिका तथा 'रागादि सर्व दोषों'का क्षय करना सो है। अत्र निम्न प्रकारसे छत्तीस विवक्षित प्रकारोंका स्पष्टीकरण कुछेक उदाहरणोंके साथ प्रस्तुत है :

१. **भेद-प्रधान विवक्षा :** प्रत्येक पदार्थका परिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावसे हो सकता है। प्रत्येक की सत्ता/अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता स्वरूप मोक्षमार्ग है।

२. **अभेद-प्रधान विवक्षा :** धर्मात्मा (– धर्मसे अभेद)। धर्म (– सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्रकी प्राप्ति वह)। सम्यग्दृष्टि (– सम्यग्दर्शनसे अभेद)। ज्ञानी (– सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ वह)। केवली (– केवलज्ञान प्रकट हुआ वह।)

३. **द्रव्य-प्रधान द्रव्यकी विवक्षा :** आत्मा स्वयं एक द्रव्य है। मैं परमपारिणामिक भाव हूँ।

४. **द्रव्य-प्रधान गुणकी विवक्षा :** सर्व गुण एक द्रव्यकी ही विशेषता है।

५. **द्रव्य-प्रधान पर्यायकी विवक्षा :** चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव वह सम्यग्दृष्टि है। स्वानुभव। स्वानुभूति।

६. **गुण-प्रधान द्रव्यकी विवक्षा :** आत्मा ज्ञानस्वभावी है। आत्मा सहज आनंद स्वरूप है। स्वभावकी बुद्धि द्वारा आत्माका आदर करना।

७. **गुण-प्रधान गुणकी विवक्षा :** चैतन्यगुण ज्ञान तथा दर्शनस्वरूप है। रूप-रस-गंध-स्पर्श रूपीपने के भेद हैं।

८. **गुण-प्रधान पर्यायकी विवक्षा :** सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व। भगवतीप्रज्ञा।

९. **पर्याय-प्रधान द्रव्यकी विवक्षा :** जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थित हो उसे स्वसमय जानना। संसारी जीव। सिद्ध जीव।

१०. **पर्याय-प्रधान गुणकी विवक्षा :** ज्ञान ज्ञानका वेदन करे ऐसा ज्ञानस्वभाव है। प्रत्यक्ष वेदन होना वह स्वसंवेदनशक्ति अथवा प्रकाशशक्तिका परिणमन है।

११. **पर्याय-प्रधान पर्यायकी विवक्षा** : सम्यक्त्व मोक्षका मूल है। मिथ्यात्वके गर्भमें अनंत संसार है।

१२. **श्रद्धा-प्रधान श्रद्धाकी विवक्षा** : सिद्ध समान निज-स्वरूपकी निर्विकल्प प्रतीति वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

१३. **ज्ञान-प्रधान श्रद्धाकी विवक्षा** : भूतार्थ आश्रित नौ तत्त्वकी श्रद्धा वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

१४. **चारित्र-प्रधान श्रद्धाकी विवक्षा** : निजस्वरूपमे आचरण करनेसे (– स्थिर होनेसे) मोक्षदशाकी प्राप्ति होगी, ऐसी श्रद्धा वह निश्चय सम्यक् श्रद्धा है। वीतराग सम्यग्दर्शन। सराग सम्यग्दर्शन ।

१५. **पुरुषार्थ-प्रधान श्रद्धाकी विवक्षा** : समस्त उद्यमसे स्वरूपकी उपासना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

१६. **सुख/आनंद-प्रधान श्रद्धाकी विवक्षा** : स्वरूपके अनंत सुखकी प्रतीति वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

१७. **श्रद्धा-प्रधान ज्ञानकी विवक्षा** : सम्यक् श्रद्धानपूर्वक खुला हुआ ज्ञान वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

१८. **ज्ञान-प्रधान ज्ञानकी विवक्षा** : स्वपनेसे वेदनमे आ रहा ज्ञान वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

१९. **चारित्र-प्रधान ज्ञानकी विवक्षा** : स्वस्वरूपमें ज्ञानकी स्थिरता वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। वीतराग अनुभूति। शुद्धोपयोग। अशुद्धोपयोग। शुभोपयोग। अशुभोपयोग।

२०. **पुरुषार्थ-प्रधान ज्ञानकी विवक्षा** : ज्ञानबलसे आत्माके सभी गुणोंका विकास साधा जा सकता है।

२१. **सुख/आनंद-प्रधान ज्ञानकी विवक्षा** : आनंद-मुद्रित ज्ञान वही निश्चय सम्यग्ज्ञानका स्वरूप है।

२२. **श्रद्धा-प्रधान चारित्रकी विवक्षा** : दृष्टिके बलसे मोक्षमार्गमें स्थिर होनेरूप अथवा उपर-उपरके गुणस्थानमें आरुढ होनेरूप निश्चय सम्यग्चारित्र है।

२३. **ज्ञान-प्रधान चारित्रकी विवक्षा** : स्वस्वरुपज्ञान ही प्रत्याख्यान (वीतरागभावरूप ही) है।

२४. **चारित्र-प्रधान चारित्रकी विवक्षा** : वीतरागभाव से स्वरूपमें स्थिरता वही स्वरूपाचरण निश्चय सम्यग्चारित्र है। वीतराग चारित्र। सराग चारित्र।

२५. **पुरुषार्थ-प्रधान चारित्रकी विवक्षा** : मोक्षमार्ग में तीव्र पुरुषार्थ वह आत्मशुद्धि (– निर्विकल्पता)का पुरुषार्थ है। और सविकल्पदशा

अथवा व्यवहारचारित्रमें भी शुद्धिका ही मंद पुरुषार्थ है।

२६. सुख/आनंद-प्रधान चारित्रकी विवक्षा : स्वरूपानंद आत्माका निश्चय सम्यग्चारित्र है।

२७. श्रद्धा-प्रधान पुरुषार्थकी विवक्षा : रुचि अनुयायी वीर्य।

२८. ज्ञान-प्रधान पुरुषार्थकी विवक्षा : स्वसन्मुख ज्ञानमें स्वरूपकी अनंत प्रत्यक्षता आते ही वीर्यगुणकी पर्यायमें चैतन्यवीर्य उछलता है।

२९. चारित्र प्रधान पुरुषार्थकी विवक्षा : स्वस्वरूपमें स्थिरताका बल वीतरागताको प्रकट करता है अथवा विभावको क्षय करता है।

३०. पुरुषार्थ-प्रधान पुरुषार्थकी विवक्षा : स्वरूपरचना वह वीर्यशक्तिका स्वाभाविक परिणमन है।

३१. सुख/आनंद-प्रधान पुरुषार्थकी विवक्षा : निर्मल आनंदसे उल्लसित वीर्य बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता से परे होकर अथवा निरपेक्ष होकर वर्तता है, वह सम्यक् पुरुषार्थ है।

३२. श्रद्धा-प्रधान सुख/आनंदकी विवक्षा : प्रकट-अप्रकट सर्व अवस्थाभेद है, वस्तु तो सदा जैसी है, वैसी है – ऐसी श्रद्धा सुखका मूल है।

३३. ज्ञान-प्रधान सुख/आनंद की विवक्षा : कषायके अभाव स्वभावी निराकुल ज्ञान स्वयं ही सुख स्वरूप है। निजस्वरूपका उपयोग वह सुख है।

३४. चारित्र-प्रधान सुख/आनंदकी विवक्षा : स्वस्वरूपस्थिरतासे परिणमन कर रहा आत्मा ही स्वयं सुख है।

३५. पुरुषार्थ-प्रधान सुख/आनंदकी विवक्षा : धर्मीजीवको अंतर्मुखी परिणामका जोर स्वस्वभावमे रहे अनंत सुखमयपनेके कारण प्रतिसमय बढता जाता है, इसलिये सम्यक् पुरुषार्थ ही सुखका जनक है।

३६. सुख/आनंद प्रधान सुख/आनंदकी विवक्षा : निराकुलतामय सुखशक्ति है।

"जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वह;"

अतः आत्मार्थियोंको परमकृपालु श्रीमद्जीके उक्त उपकारभूत निर्देशका निरंतर लक्ष रहना (रखना) कर्तव्य है। तो ही तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर रहे मुमुक्षुजीवको शास्त्रोंकी विवक्षाओंमें परस्पर अविरोधता उत्पन्न हो, अर्थात् कहीं विरोधाभास उत्पन्न न हो; एवम् विपरीत तर्क अथवा कुतर्कसे उन्मार्गमें जानेसे बच सके। इसतरह आत्मलाभको लक्षमें रखकर उपर्युक्त विवक्षायें जानने योग्य है। अस्तु। □

भाव-संतुलन रूप अनेकांत

श्री सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रप्रणीत तत्त्वज्ञान परंपरासे आज धर्मस्तंभ, परम श्रद्धेय आचार्य भगवंतो तथा वंदनीय सत्पुरुषों द्वारा विद्यमान है। और ज्ञानी धर्मात्मा स्वानुभवपूर्वक उसकी प्ररुपणा करते रहें हैं; वह सांप्रत हूंडावसर्पिणी दुषमकालमें भी परम सौभाग्यकी स्थिति है।

परम पदार्थ आत्मा स्वरूपसे हि सूक्ष्म स्वभावी-स्वरूपी होनेके कारण उसका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका मार्ग – साधनका स्वरूप भी अत्यंत सूक्ष्म है। अतः अंतरमें सूक्ष्मतासे ज्ञानको देखें तो तत्त्व पकड़में आ सके ऐसा है, अथवा भेदज्ञान हो सके। परकी – रागकी तीव्र रुचि रहनेसे उपयोग स्थूल रहता है। स्वभावकी महिमा होनेसे, वैसी विपरीत रुचि मिटनेसे, उपयोग धीर और सूक्ष्म होकर, स्वभाव-विभावको अलग करके, स्वरूप ग्रहण करने योग्य होता है। अंदर द्रव्यमें उतरनेके लिये यथार्थ सूक्ष्मताके कुछेक प्रयोजनभूत मुद्दे आत्मार्थी जीवको विपर्याससे बचनेके लिये विचारने योग्य है। जिससे सत्शास्त्रोंकी विभिन्न कथन पद्धति होनेसे उसका अभ्यास करते समय, कहीं भी भावमें संतुलन गंवा देनेसे एकांतपना न हो जाय। इसलिये संतुलनके लिये कुछेक मुद्दे निम्न प्रकारसे है।

१. निश्चय – व्यवहार। २. उपादान – निमित्त। ३. आगम – अध्यात्म। ४. श्रद्धा – ज्ञान। ५. द्रव्य – पर्याय। ६. भेद – अभेद। ७. ज्ञान – पुरुषार्थ। ८. उत्सर्ग – अपवाद। ९. चारित्रमोह – दर्शनमोह। १०. पर्यायकी भिन्नता – अभिन्नता।

१. निश्चय-व्यवहार : निश्चय आत्मस्वरूपका आश्रय करानेके प्रयोजनवश जिनागममें आध्यात्मशास्त्रोमें जगह जगह निश्चयकी मुख्यतासे प्रतिपादन है। परंतु उस विषयका एकांत हो जानेसे भावमें संतुलन नहीं रहनेसे निश्चयाभास उत्पन्न होता है। एवं मोक्षमार्गमें साधककी भूमिकानुसार, वीतरागी स्थिरताके कारण, (निम्न कोटिके रागका अभाव दर्शाने हेतु) यथार्थ व्यवहारका प्रतिपादन भी प्रयोजनवश किया है, उस पर वजन बढ़ जानेसे व्यवहाराभास उत्पन्न होता है। एवं वीतराग मार्गमें आरुढ होकर निश्चय-व्यवहारकी संधियुक्त परिणमन नहीं होनेसे दोनों विषयमें कृत्रिम/कर्तृत्वबुद्धिसे विकल्प हुआ करे, तब उभयाभास उत्पन्न होता है।

वह सब एकांत है। यथार्थ समझ और सम्यग्ज्ञानमें दोनों विषयोंका अपनी अपनी जगह संतुलन बना रहनेसे निश्चय-व्यवहारका अविरोधपना (विषय विरोध होने पर भी) सधता है। अर्थात् निश्चयस्वरूपके लक्ष सहित – जोर सहित, शुभभावरूप व्यवहार यथासंभव सहज प्रवर्तता है; दोनोंमेसे किसीका स्थान भ्रष्ट हो जानेका प्रकार उत्पन्न नहीं होता।

२. उपादान – निमित्त : उपादान निज शक्ति है; तदानुसार कार्यके अनुकूल संयोगमें रहा हुआ पदार्थ निमित्त है। साधक जीव अपने पुरुषार्थमें मुख्यरूपसे वर्तते है फिर भी वीतरागी देव, शास्त्र, गुरु तथा सत्पुरुषका निमित्तरूप से स्वीकार तथा उनकी महिमा, भक्ति, बहुमानके भाव, सराग स्थितिमें सहज आये बिना नहीं रहते; तथापि निमित्ताधीनबुद्धि हुये बिना, उनके उपकारको भूलते नहीं है। "प्रत्यक्षयोग के बिना देशनालब्धिकी प्राप्ति होती नहीं है" – इस वस्तुस्थितिके सिद्धांतको साधक जीव अपने अनुभवसे समझते हैं; इसलिये कुदेव आदिको निमित्तरुपमें भी स्वीकार नहीं करते। उपकारी श्रीगुरुके प्रति परम भक्तिके भाव होनेके बावजूद भी, संतुलन गंवाये बिना वे अपने पुरुषार्थ द्वारा उद्यमवंत रहते हैं; और कार्य अपनेसे ही होता है ऐसा बराबर समझते हैं। इस तरह निमित्त – उपादानका संतुलन है।

३. आगम – अध्यात्म : चारों अनुयोगमें अनुयोग अनुसार सिद्धांत स्थापित हैं। और उन सबका हेतु 'आत्मस्वरूपके आधार से आत्महित साधनेका है।' इस प्रकार चारों अनुयोगमें तात्पर्यभूत अध्यात्मतत्त्व है। इसल्रिये अध्यात्मके सिद्धांत सर्वोत्कृष्ट है। और उसके लाभ हेतु आगमका सैद्धांतिक ज्ञान यथावत् रखकर, अध्यात्मपद्धतिको मुख्य करनेमें आता है; और इसलिये आगम-ज्ञानका विषय गौण हो जाता है। जैसे कि :

पर्याय द्रव्यका अंश – अवयव होने पर भी त्रिकाली ध्रुव परमात्म तत्वमें अहंबुद्धि होने हेतु, उपासने हेतु चारों पर्यायभाव – औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावोंको परद्रव्य और परभाव कहनेमें आया है। वहाँ द्रव्यानुयोगके सिद्धांत अनुसार 'पर्याय द्रव्यका अंश है' यह (बात) ज्ञानमें गौण रह जाती है, और उपरोक्त अध्यात्मके हेतुवश 'ध्रुवतत्त्व'की मुख्यता की जाती है; फिर भी ज्ञानमें आगम – अध्यात्मका संतुलन बना रहता है। ऐसी सूक्ष्मता सम्यक् मार्गमें है।

राग निश्चयसे जीवका विकार है। फिर भी, उसमें हेयपना होने हेतु उसे पुद्गल कहकर उसका निषेध करनेमें आत्ता है। वहाँ राग

वास्तवमें पुद्गल है ऐसा ज्ञानमें नहीं होते हुए भी, संतुलन बना रहकर उसको पुद्गल कहनेमें निर्दोषता ही है, अर्थात् उसमें दोष नहीं है।

द्रव्यानुयोगके आगम-सिद्धांत अनुसार द्रव्य तथा पर्यायका एक क्षेत्र है। फिर भी, जीवने अनादिसे पर्यायकी अनित्यतामें नित्यताको भ्रान्तिगतरूपसे स्थापित किया है; उस भ्रान्तिका नाश होनेके प्रयोजन हेतु तथा नित्य स्वभाव पर दृष्टि कराने हेतु 'द्रव्यके क्षेत्रसे पर्यायका क्षेत्र भिन्न है' ऐसा सिद्धांत अध्यात्मशास्त्रोंमें प्रतिपादित है। वहाँ भी द्रव्यानुयोग अनुसारका आगम-ज्ञान गौण रहकर आध्यात्मिक अभिगम दरसानेके लिये ऐसा कहनेमें आता है, वह निर्दोष है। और ऐसा कहनेमें ज्ञानीका आगम – अध्यात्मका संतुलन बराबर बना रहता है और जरा भी एकांत नहीं होता।

४ श्रद्धा – ज्ञान : सम्यक् श्रद्धाका विषय पर्यायरहित मात्र त्रिकाली ध्रुव परमात्मतत्त्व ही है। इसके सिवा पूर्णशुद्ध पर्यायका भी श्रद्धा स्वीकार नहीं करती। जब कि ज्ञानका विषय शुद्ध पर्यायके वेदन सहित त्रिकाली ध्रुवका अवलंबन लेनेका है। तथा ज्ञान गुणभेदोंको, विभावको एवं विभावके निमित्तको भी यथास्थानमें जानता है। इस प्रकार सभीको जानना यह ज्ञानका स्वभाव होने पर भी साधक को श्रद्धाके विषयभूत परमतत्त्वकी ज्ञानमें मुख्यता रहती है; और गुणभेद, पर्यायवेदन, निमित्तादि ज्ञानमें गौणरूपसे रहते है। इसलिये श्रद्धा एवं ज्ञानके परिणमनमें अविरुद्धपना रहता है वही श्रद्धा-ज्ञानका संतुलन है। अगर कोई श्रद्धाके विषयमें एकांत करे तो ज्ञानमें अयथार्थता उत्पन्न हो जाय अथवा ज्ञानमें श्रद्धाके विषयको छोडकर अन्यकी मुख्यता – पर्यायकी या निमित्तकी मुख्यता हो जाय तो श्रद्धा सम्यक् नहीं रहेगी। यथार्थ समझपूर्वक ही सम्यक् श्रद्धा प्रकट होती है।

५. द्रव्य-पर्याय : द्रव्यस्वभावका अवलंबन द्रव्यस्वभावके जोर से आता है; फिर भी वेदन पर्यायका होता है। पहले चतुर्थ गुणस्थानमें पर्यायमें अपूर्व आनंद वेदनमें आता है; फिर भी उस आनंद आदि पर्यायकी मुख्यता नहीं होती है। अथवा मोक्षपदकी भावनाके समय भी साधकको पर्यायका आश्रय नहीं होता है। द्रव्यका अवलंबन एवं पर्यायशुद्धि दोनों प्रयोजन सम्मिलित होते हुये भी, संतुलन रहनेसे दोनों यथास्थान में रहते हैं। – इस प्रकार द्रव्यके आश्रयसे ही पर्यायमें प्रयोजन सधता है। पर्यायदृष्टि छुडाकर द्रव्यदृष्टि कराने पर ही प्रयोजनकी सिद्धि है।

६. भेद-अभेद : अनादिसे अभेद स्वरूप से अनजान ऐसे जीवको भेदपूर्वक अभेदस्वरूप समझानेके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। कमसे कम "ज्ञान वह आत्मा" ऐसा गुण-गुणीका भेद कहे बिना अखंड अभेद आत्मा समझाया नहीं जा सकता है। पुनश्च, वस्तुका स्वरूप भी कथंचित भेदरूप है; अतः वस्तुभूत होनेके कारण भेदको स्वरूपज्ञान उत्पन्न होनेका अंग कहा है। अभेद स्वरूपका ज्ञान हो जानेके बाद भी वस्तुकी महिमा दर्शानेके लिये वस्तुमें रहे अनेक गुणवैभव द्वारा दर्शानेमें आता है। वहाँ भी भेदकी प्रधानता दिखने पर भी अभेदका अनुभव साधनेका प्रयोजन है। इसलिये ऐसे प्रसंगोंमें अभेद तत्त्वकी ही मुख्यता रहती है। सम्यक् मार्गमें ऐसा संतुलन दोनोंके बीच रहता है।

७. ज्ञान – पुरुषार्थ : परमतत्वका आश्रय स्वभावके जोरसे होता है। स्वभाव पर जोर होना वही स्वरूपज्ञानकी वास्तविकता है। अन्यथा द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव संबंधित क्षयोपशमवाला ज्ञान अनादिसे कषायके जोरमें रहकर प्रवर्तमान होनेसे वह राग अथवा परका आश्रय छुडानेमें समर्थ नहीं है। स्वभाव प्रति जोर होनेमें कृत्रिमता न हो जाय वह लक्षमें रखने योग्य है। मनके संगसे विचारज्ञानमें ज्ञायकतत्त्वकी कल्पना हो जाये और तद्अनुसार चिंतवन, मनन, घोलन इत्यादि चले तो भी स्वाभाविक पुरुषार्थके अभावके कारण अनुभव नहीं सधता है। वास्तवमें तो स्वभावके भावभासनसे, स्वभावका सामर्थ्य ज्ञानमें आनेसे, स्वभावका चैतन्यवीर्य उछले तो ही उसमें कृत्रिमता नहीं होती है। इस प्रकारमें आनेसे द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुका स्वरूपज्ञान तथा त्रिकाली अभेद स्वभाव प्रतिके जोर – पुरुषार्थ के बीचमें संतुलन बना रहता है। भावभासनके बिना ज्ञान कल्पनायुक्त है। कल्पना तथा वास्तविकता परस्पर विरुद्ध है। इसलिये कल्पनायुक्त ज्ञानसहित कृत्रिम जोर आये तो भी स्वरूपज्ञान और पुरुषार्थके बीच संतुलन नहीं बन पाता है और एकांत हो जाता है। कल्पनाका फल दुःख है, वह विस्मरण करने योग्य नहीं है। आगमका अभ्यास करते हुये स्वरूपनिश्चय होनेमें कल्पना हो जानेका कारण जीवकी लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग है। इसलिये उक्त तीनों प्रकारके दूषित भावोंको छोडकर, अंतरखोजपूर्वक यथार्थ स्वरूपनिश्चय हो तो ही ज्ञान व पुरुषार्थका सुमेल रहता है।

८. उत्सर्ग – अपवाद : साधकका परिणमन उत्सर्ग-अपवाद की मैत्रीरूप होता है। केवल वीतरागता ही एकांतरूपसे उपादेय है और

राग एकांतरूपसे उपादेय नहीं है, ऐसा उत्सर्गका सिद्धांत है। तथापि शुद्धिके मंद पुरुषार्थके कारण साधकको अपनी भूमिकानुसार अपनी मर्यादाका राग-विकल्प उत्पन्न हो जाता है, वह अपवादमार्ग है; वहाँ अशुभसे बचनेके लिये शुभरागरूप प्रवर्तन भी होता है। उत्सर्ग एवं अपवाद दोनों विषयमें संतुलन गंवाये बिना, साधक जीव उग्र पुरुषार्थमें प्रवर्तन करता हुआ बारम्बार शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प दशामें आरुढ होकर, मोक्षमार्गमें आगे बढ़ता है।

९. चारित्र मोह – दर्शन मोह : मोक्षमार्गमें विचरते हुये धर्मात्माको चारित्रमोहवश राग-द्वेष उत्पन्न होता है; फिर भी उसमें तन्मयभावसे वे परिणाम नहीं होते हैं। इस प्रकार रागादिमें प्रवर्तते हुये भी संतुलन गंवाकर विभावकी तन्मयता नहीं होनेका कारण उनको दर्शनमोहका अभाव वर्तता है वह है। अर्थात् साधक जीव निज स्वरूपके भानमें रहते होनेसे, स्वरुपका एकत्व नही छूटनेसे, रागादि विभावसे भिन्न रहनेरूप संतुलन बनाये रखते हैं।

१०. पर्यायकी भिन्नता – अभिन्नता : पर्याय अनित्यभाव है जब कि द्रव्य शाश्वत है। इसलिये दोनोंके धर्म परस्पर विरुद्ध है – एक अनित्य और दूसरा नित्य। फिर भी दोनों अभिन्न सत्तामें होनेके कारण पर्याय द्रव्यसे अभिन्न भी है। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय की कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता है।

अब पर्याय कथंचित् भिन्न होनेके कारण अनादिसे पर्यायमें संसारअवस्था स्वतंत्ररूपसे हो रही है। आत्माका मूल स्वभाव सदा-सर्वथा संसारसे रहित, एकरूप, सिद्ध समान होते हुये भी, अनादिसे पर्याय अनेक रूपसे संसारभावमें स्वतंत्ररूपसे हो रही है; परंतु स्वभाव सामर्थ्यके आधीन स्वभावरूप अवस्था नहीं होती; इस तरह पर्यायकी स्वतंत्रता भी है। (इस प्रकार अगर जीवकी पर्याय अनंत सामर्थ्यके अधीन भी नहीं होती है तो परपदार्थके अधीन होनेकी बातका तो कोई अवकाश ही नहीं रहता है।)

पर्यायकी इस प्रकारसे स्वतंत्रता जानने-माननेसे निम्न विपर्यास उत्पन्न नहीं होते है बल्कि परमार्थरूप प्रयोजन सधता है :

१. पराधीनताके अज्ञान अभिप्रायसे उत्पन्न हो रहे राग-द्वेष मिटते हैं।

२. जो पर्यायकी स्वतंत्रताका स्वीकार न कर सके वह द्रव्यकी

स्वतंत्रताका भी स्वीकार नहीं कर सकता हैं, ऐसा प्रतिबंधक अभिप्रायका दोष मिटता है।

३. पर्यायकी स्वतंत्रता जाननेसे 'पर्यायकी गौणता' पूर्वक 'त्रिकाली स्वभावकी मुख्यता' पर्याय प्रति उपेक्षित भावसे हो – यह महत्त्वपूर्ण न्याय है।

– इस तरह अध्यात्मके प्रयोजनवश पर्यायकी स्वतंत्रता – रूप धर्मको ठीक प्रकारसे दरसानेके लिये पर्यायके षट्कारकरूपी धर्म भी कहनेमें आते हैं, वहाँ कथंचित् अभिन्नरूपसे वस्तुकी रचनाका ज्ञान रहता है, और संतुलन गंवाते नहीं तथा एकांत भी नहीं होता।

सारांश यह है कि : सम्यक्मार्गमें वस्तुस्वभावकी और मार्गकी अत्यंत सूक्ष्मता रहती है, जो ज्ञानीधर्मात्माके ज्ञानमें स्पष्टरूप से निरंतर प्रकाशित रहती है; तथापि उसको वचनगोचररूपसे कहने पर स्थूल विकल्परूप वचनव्यवहार उपस्थित होता है, ऐसी वस्तुस्थिति है। जिसके कारण ज्ञानीके हृदयमें स्थित अर्थगांभीर्य तक पहुँचनेमें असमर्थ ऐसे मुमुक्षु जीवको एकांत हो जानेका संभव है। इसलिये उपर्युक्त कुछेक प्रयोजनभूत वाक्योंका संक्षेपमें स्पष्टीकरण है। उन्मार्गसे बचकर सन्मार्गमें स्थितिकरण हो इस हेतुसे उक्त निरुपण है, अस्तु।

□

ज्ञान

आत्माकी अनंत शक्तियोमेंसे एक मुख्य शक्ति 'ज्ञान' है। इस शक्तिकी व्यक्ति अनेकविध प्रकारसे विभिन्न अवस्थाओमें प्रगटती रहती है; उसी तरह ज्ञानमें आश्चर्यकारी अनंत ऋद्धियां रही हुई है; उसके अवलोकन हेतु संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :

✹ ज्ञानकी सत्ता : द्रव्य प्रमाण; शक्ति : स्व-पर प्रकाशक; जाति : सम्यक् व मिथ्या; गति : ज्ञान (– जानपना) और अज्ञान (– अनजानपना) है ।

✹ ज्ञानके आगमविवक्षा से (– कर्मके आवरण – निरावरणकी अपेक्षासे) पाँच भेद हैं : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान।

✹ भ्रांतिगत अवस्थामें प्रवर्तमान मति – श्रुत – अवधि ज्ञानको 'कु' संज्ञा मिलती है। अर्थात् वैसी अवस्थामें प्रवर्तमान ज्ञानको कुमति – कुश्रुत – कुअवधि (विभंग) कहनेमें आता है। भ्रांति पैदा होनेका मुख्य कारण 'परपदार्थोको निजस्वरूप जानना-मानना' वह है; जिसकी वजहसे ज्ञानमें मुख्यरूपसे तीन दोष उत्पन्न होते है : संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विपर्यय (विपर्यास)।

✹ निर्भ्रांत अवस्थामें प्रवर्तते मति – श्रुत – अवधि ज्ञानको 'सु'/'सम्यक्' संज्ञा मिलती है। अर्थात् उस अवस्थामें रहे ज्ञानकों सुमति – सुश्रुत – सुअवधि कहनेमें आता है।

✹ कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (विभंग) ज्ञान पहले गुणस्थानमें होता है ।

✹ सुमति, सुश्रुत तथा सुअवधि ज्ञान चौथेसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है।

✹ प्रवर्धमान चारित्रवंत तथा अन्यतम ऋधिवाले किसी भावलिंगी मुनिराजको ही मनःपर्ययज्ञान प्रकट होता है। इस ज्ञानके दो भेद हैं : ऋजुमति तथा विपुलमति। मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।

✹ तेरहवें गुणस्थानमें प्रकट होनेवाला क्षायिक ज्ञान जो कि सर्वथा

अंतर्मुख होने पर भी सर्वदा, सर्वत्र सर्वथा सर्वको जानता है वह केवलज्ञान है।

✸ स्पष्ट और अस्पष्ट जाननेकी अपेक्षासे ज्ञानके दो भेद है : प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति और श्रुत परोक्ष है। अवधि और मनःपर्यय अंश प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। सूक्ष्म विचारसे स्वानुभवके कालमें मति-श्रुत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं।

✸ प्रथम गुणस्थानमें प्रवर्तमान एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंको मति-श्रुत ज्ञानका क्षयोपशम न्यूनतम अक्षरके अनंतवें भाग प्रमाण और उत्कृष्टतम ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक होता है।

✸ श्रुतज्ञानकी पर्यायमें दो भाग पडते हैं : लब्ध और उपयोग।

✸ सम्यक् श्रुतज्ञान नय-प्रमाण युक्त प्रवर्तता है। नयोंके अनंत भेद हैं, उसमें मुख्य दो भेद है : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। श्रुतज्ञानकी पर्यायके अनंत धर्म होते है। उसमेंसे किंचित् वचनगोचर धर्मोंका स्वरूप निम्न प्रकार से है :

१.	जानना	: जाननरूप ज्ञान।
२.	वेदना (वेदन करना)	: अनुभव करना।
३.	स्वच्छता	: ज्ञेयके प्रतिबिंबको झेलना
४.	व्यापकता	: व्यापना। विभुता।
५.	उर्ध्वता	: मुख्य रहना।
६.	सूक्ष्मता	: तीक्ष्णता ।
७.	निर्लेपता	: निर्ममत्व। भिन्न रहना। विरक्तता।
८.	गंभीरता	: गहनता ।
९.	धीरता	: अविचलता ।
१०.	निःशंकता	: शंकारहित।
११.	सहजता	: स्वाभाविकपना।
१२.	निर्विकारता	: शुद्धता ।
१३.	रम्यता	: रमणीयपना । मनोहरता। मनोरमता। सुंदरता।
१४.	मध्यस्थता	: तटस्थ रहना।
१५.	प्रभुता	: वैभवपना ।
१६.	ऐश्वर्यता	: ईश्वरता। शक्तिवानपना।
१७.	अमेयता	: सीमारहितपना। अमर्यादितता।

१८.	निराकुलता	: आकुलतारहित।
१९.	निरामयता	: निर्दोषपना।
२०.	निरपेक्षता	: उपेक्षा। उदासीनता।
२१.	निर्भ्रांतता	: भ्रमरहित।
२२.	निरापद	: निर्विघ्नपना।
२३.	नित्यता	: अविनश्वरता। शाश्वतता।
२४.	सादृशता	: एकरूपता।
२५.	विसादृशता	: अनेक प्रकारसे ज्ञेयानुसार होना।
२६.	धारणा	: जाना हुआ धारण करके रखना। स्मृति।
२७.	संस्कार	: गहरे गहरे छाप रह जाना।
२८.	मूल्यांकन	: कीमत आंकना।
२९.	महिमा	: बहुमान होना। भवित होनी।
३०.	ज्ञेयत्व	: जनाने योग्य।
३१.	प्रमेयत्व	: प्रमाण होने योग्य।
३२.	पहचानना	: भाव भासित होना।
३३.	चिकित्सा	: जाँचना। खोजना।
३४.	परीक्षा	: चारों ओर से जानकर निर्णय पर आना।
३५.	मुख्य-गौण करना	: अनेक विषयोंको जानने पर भी प्रयोजनका विषय मुख्य होना तथा बाकी सब गौण हो जाना।
३६.	लक्ष	: प्राप्ति एवं आश्रयका स्थान ज्ञानमेंसे नहीं छूटना।
३७.	तर्कणा	: हेतु प्रति लम्बाना।
३८.	विवेक	: न्याय-अन्याय सम्मत करना। संतुलन बनाये रखना।
३९.	अवलंबन	: स्वसत्ताका या परसत्ताका।
४०.	दिशा	: स्व-पर सन्मुख अथवा स्व-पर उन्मुख होना।
४१.	सावधान	: सम्हालना।
४२.	चेतना	: जागृत होना।
४३.	विश्वास करना	: प्रतीति करना।
४४.	रस-प्रगाढता	: जैसे जैसे ज्ञान स्वभावका वेदन करता

जाता है, वैसे वैसे विज्ञानघन होता जाता है। स्वसंवेदन ज्ञान तो स्वसंवेदन ज्ञान ही है, परंतु स्वरूपको वेदनके रसकी तारतम्यता तीव्र-तीव्रतर – तीव्रतम होती जाती है, वह ज्ञानरसकी प्रगाढता है।

✹ ज्ञान सभी ज्ञेयोंको प्रकाशता है।
✹ ज्ञान स्वयं ही स्वसंवेद्यमान है।
✹ ज्ञानमें अन्य ज्ञेयको वेदनेका गुण नहीं है।

तथापि, "ज्ञान परको नहीं जानता" ऐसा जो कथन आध्यात्मिक प्रकरणमें है; उसमें रहे अर्थगांभीर्यका आत्मार्थी जीवों को स्वहितके लक्षसे पूरीपूरी गंभीरतासे अवधारण करने योग्य है; अन्यथा इस विषयमें विपर्यास होनेकी संभावना अवश्य है।

अतः "ज्ञान परको जानता नहीं है" – वहाँ ज्ञानकी शक्ति जो कि 'निश्चय' से स्व-पर प्रकाशक है, वह सर्व ज्ञेयोंको प्रकाशती है; उसका निषेध करनेका हेतु यहाँ नहीं है। परंतु अध्यात्मके दृष्टिकोणसे निम्नलिखित तीन न्याय यहाँ सोचे जा सकते है। यथा :

१. जो ज्ञानरसके रसिक ज्ञानी हैं, ऐसे ज्ञानी ज्ञेयाकारज्ञानको गौण करते हुये, ज्ञानको ज्ञानसामान्यमें एकाकार करते हुये, उस प्रकारकी मस्तीमें परज्ञेयको अत्यंत गौण करके ऐसे वचनामृतको प्रकाशित करते हैं।

२. ज्ञान परका वेदन नहीं करता अर्थात् वेदन कर भी नहीं सकता : ऐसा भाव सूचित करनेके लिये भी उक्त वचनामृत न्याय संपन्न है।

३. ज्ञान परमें तन्मय होकर जानता नहीं है परंतु स्वच्छताके कारण ज्ञेयका प्रतिबिंब ज्ञानमें झलकता होने पर भी ज्ञान ज्ञेयमें एकत्वभावको प्राप्त नहीं होता; परंतु ज्ञानका ज्ञानमें एकत्व अनुभवरूपमें स्पष्टतया रहता है; ऐसे आशयसे भी उक्त वचन निर्दोष है।

– उपरोक्त न्यायोंका अवधारण किये बिना, 'ज्ञान परको जानता नहीं है' ऐसे वचन द्वारा ज्ञानकी स्व-पर प्रकाशक शक्तिका अज्ञानभावसे निषेध हो जाये तो उसमें आत्मस्वरूप का निषेध गर्भित है और वह स्पष्टरूपसे गृहीत मिथ्यात्वको उत्पन्न करनेवाला भाव है।

पुनश्च स्वानुभूतिके कारणोंमें भेदज्ञानकी प्रक्रियाकी प्रधानता है। इसलिये ज्ञानको एकमात्र साधनके रूपमें प्रसिद्धरूपसे कहनेमें आया है। साधनविषयक किसी भी प्रकारका विपर्यास होने पर आत्महितका प्रयोजन कोई भी अंशमें सधता तो नहीं है परन्तु जीव उन्मार्गमें चढ जाता है। आत्महितके इच्छावान जीवोंके लिये 'ज्ञान' ही एकमात्र साधन है। इसकी स्पष्टताके परन्तु लिये निम्न गाथा दृष्टव्य है।

"प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥"

[पंचाध्यायी (उत्तरार्ध) – गाथा : ४०१]

दुर्जय ऐसा मोह और किसी भी प्रकारकी विभाव प्रकृति 'ज्ञानसे' ही क्षय होती है; अतः ज्ञानको समझनेका यह मूलभूत प्रयोजन है। इसीलिये ज्ञानको सर्वांगीरूपसे समझनेके हेतुसे उक्त लेखमें यत्किंचित् स्पष्टता की गई है। मुमुक्षु जीव पूरी सावधानीपूर्वक 'ज्ञान'को समझनेका और अवलोकनेका उद्यम करें, ऐसी प्रशस्त भावना है। और ज्ञानविषयक कोई भी प्रश्न उपस्थित होने पर, उस प्रश्नकी पृष्ठभूमि उक्त प्रकरण-विस्तारके अनुसंधानमें विचारना – समझना आवश्यक है। अस्तु....

□

मंगल प्रारंभ

आत्मार्थी जीवके जीवनका मंगलमय प्रारंभ इस प्रकार होता है कि जिसके फलस्वरूप उसे मंगलदायी सन्मार्गकी दिशामें उत्तरोत्तर ऊर्ध्व भूमिका संप्राप्त होकर, मोक्षमार्ग (—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) प्रगट हो सके।—ऐसे बीजभूत सिद्धांतके बारेमें 'मंगल प्रारंभ' शीर्षकके अंतर्गत, आत्मार्थी जीवोंके विचारार्थ, चंद विचार प्रस्तुत है :—

आत्मजागृति मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण है। वस्तुतः मुमुक्षुताका मंगल प्रारंभ ही आत्मजागृतिसे होता है। 'जितनी आत्मजागृति उतनी ही मुमुक्षुता'—ऐसा अभिमत सर्व ज्ञानियोंका है। अतएव बिना आत्मजागृतिके मुमुक्षुता केवल नाममात्र होनेसे उसे शून्यवत् समझना योग्य है।

हर विचारवान जीवकी ऐसी चाहत है कि उसका जीवन शांत व निराकुलतामय बन जाये। तदर्थ वह अपनी जीवन शुद्धि इच्छता है। क्योंकि जीवनशुद्धि और पवित्रताके साथ सुख-शांति अविनाभावी है। यह स्पष्ट है कि जिनका जीवन मलिन है, तो फिर वे चाहे भौतिक वैभव संपन्न भी हो तो भी वे अपने दुःख व क्लेशमय परिणामोंसे वर्तमानमें अशान्तिको ही भोगते हैं और भोगेंगे। अतः निराकुलता हेतु जीवनशुद्धिकरणके विषयको वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे विचार कर, तदर्थ यथेष्ट कार्यपद्धतिको समझकर, उसे अंगीकार करना चाहिए।

कार्यपद्धतिका महत्त्वपूर्ण व अनिवार्य अंग, कार्यका अनुक्रम होता है। जो यथार्थ अनुक्रमको ही न समझा जाए और अपनी कल्पना या अनुमानसे प्रवृत्ति की जाए, तो वैसी क्रमभंग प्रवृत्ति जो स्वयं क्रमविपर्यासरूप होनेसे उससे कार्य सिद्धि कदापि नहीं होती; अपितु उससे समय और शक्तिका अपव्यय अवश्य होता है। मोक्षमार्ग हेतु स्वेच्छासे प्रयत्नवान जीवोंकी असफलताका मुख्य कारण प्रायः क्रमविपर्यास सेवन है। ध्येय प्राप्तिके यथार्थ व वैज्ञानिक क्रमको समझे बिना, स्वमति कल्पनासे प्रवर्तन करनेसे अभीष्ट सिद्धि कैसे संभव है ? अतः अत्यन्त सावधानी पूर्वक चर्चितविषयका समीचीन निर्णय करना चाहिए। क्योंकि प्रथम निर्णयके आधार पर ही आगे बढ़ना होता है।

सर्व स्वानुभवी महापुरुषोंने, निष्कारण करुणासे, स्वयंके अनुभवसे

'मंगल प्रारंभ' अर्थात् 'शुरुआत' की भूमिकाके विषयका सैद्धांतिक निरूपण किया है जो विचारवान जीवको अनुभवगम्य करने योग्य है।

अपने प्रत्यक्ष उपकारी महान् तत्त्ववेत्ता पूज्य गुरुदेव श्री कहानजी स्वामीने उक्त विषयमें एक सिद्धांतसुत्र इन शब्दोंमें दिया है : **"पूर्णताके लक्षसे शुरुआत वही वास्तविक शुरुआत है"**।

पू. गुरुदेवश्रीके इस वचनामृतमें अति गांभीर्य है। उनकी स्वयंकी गहन विचारधारामेंसे उर्वरित 'यह परम सत्य' सन्मार्गकी शुरुआत करनेवाले हर आत्मार्थी जीवके लिए प्रकाशस्तंभरूप है।

चूँकि शुरुआत विषयक भूल अनेक भूलोंकी सर्जक होती है, यह सहज समझमें आये ऐसी बात है। जिसने कार्यकी शुरुआत वास्तविकरूपसे नहीं की अर्थात् उसने वास्तविकतासे दूर/विरुद्ध जाकर काल्पनिक शुरुआत की है, तो वैसी काल्पनिक शुरुआतके आधार पर कार्य सिद्धि/आत्मकल्याण कैसे संभव है ? अतएव उक्त सिद्धांतसूत्रकी विशेष गवेषणा करनी योग्य है।

यदि अपने वर्तमान धार्मिक समाज पर दृष्टिपात करें तो यह बात उभर कर सामने आती है कि उक्त महत्त्वपूर्ण विषय व उसकी गंभीरताकी चर्चा तक प्रायः नहीं चलती है; अतएव उसके परिणाम भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं। सर्वत्र अपनी अपनी रुचि व मान्यता अनुसार लोग बाह्य प्रवृत्ति करते दिखलाई देते हैं। विचारणीय प्रश्न है कि जितनी सावधानी देहार्थ, व्यवसायार्थ आदि उदयप्रसंगोके प्रति रखनेमें आती है उतनी भी सावधानी क्या अनंत जन्म-मरण व दुर्गतिके महादुखोंसे छुड़ाकर अनंत अनंत सुख-शान्ति और त्रैलोक्यपूज्य ऐसे परमोत्कृष्ट निर्वाण पदके हेतुभूत धर्मसाधनके प्रति लेनेमें आती है ? जब तक सुख-दुःखके विषयमें यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया जायेगा तब तक उक्त विषयका भी महत्त्व समझमें नहीं आ सकेगा। हकीकत यों है कि जीवको जहाँ जितना प्रयोजन भासित होता है वहाँ उसी अनुपातमें वह जाग्रत होकर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रह सकता। इसीलिये जिस जिस आत्माको अपने हित विषयक प्रतीति/जागृति आई उन उन आत्माओंने अपने देहार्थ हेतुभूत पुरुषार्थसे अनंत गुना पुरुषार्थ मोक्षके लिए किया और उन्होंने अनंत अनंत समाधिसुखको संप्राप्त किया है।

'पूर्णताके लक्षसे शुरुआत' का आशय यह है कि : 'पूर्णता' अर्थात् पूर्ण साध्यरूप शुद्ध-पवित्र अवस्था। तथा 'लक्ष' अर्थात् गंतव्य

योग्य ध्येय—जीवनका एक मात्र आदर्श। और आदर्श कभी अपूर्ण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जब तक जीवनका ध्येय (अर्थात् लक्ष्य) पूर्ण शुद्धता, पूर्ण पवित्रता, पूर्ण निर्दोषताका निर्धार/सुनिश्चित करनेमें न आए तब तक किसी भी जीवकी आत्मकल्याणकी दिशाकी ओर शुरुआत भी संभव नहीं होती। फिर वह जीव चाहे जितनी धार्मिक प्रवृत्तियाँ करता रहे तो भी उसकी वैसी प्रवृत्तियाँ ध्येयशून्य होनेसे वे लक्ष्य बिनाके तीरकी भाँति होती हैं। अनादिसे जीव का ध्येय संसार है, वह ध्येय पलटकर जब तक 'पूर्णता' का न हो जाए तब तक उसकी सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ जाने-अनजानेमें संसार हेतुभूत रहती हैं फलतः उनसे संसारबुद्धि ही होती है। 'पूर्णताके लक्षसे शुरुआत किये बिना, की जानेवाली सभी धार्मिक प्रवृत्तियोंका मूल्य, वीतरागमार्गमें शून्यवत् आँकनेमें आता है।

यहाँ मुमुक्षुजीवके लिए गंभीरतासे विचार करने योग्य यह प्रश्न है कि—जीन अनेक प्रकारसे धार्मिक अनुष्ठान/कृत्य – प्रवृत्ति,आत्मकल्याणकी आशा – अपेक्षासे करे तो भी उसे आत्मकल्याण होनेके बदले संसारवृद्धि क्यों हो जाती है ?—इस प्रश्नके बारेमें ज्ञानीपुरुषके मार्गको विचारने पर ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि : **धर्मप्रवृत्ति भी यथार्थ प्रकारसे होनी चाहिए।**

इसी संदर्भमें कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने जो कहा है वह मुमुक्षुजीवको बारंबार मंथन करने योग्य है—"परिभ्रमण करते इस जीवने अनंतबार जप, तप, शास्त्रअध्ययन आदि किये हैं, परंतु वे ज्ञानीकी आज्ञासे नहीं किये गये हैं।" ज्ञानीकी आज्ञासे नहीं किये गये हैं"—इसके माने क्या ? कि—'यथार्थरूपसे किये नहीं हैं' अर्थात् 'स्वच्छंदसे किये हैं'; जिससे संसार परिभ्रमण चालू रहा है।

ज्ञानीकी आज्ञा 'पूर्णताके लक्ष्यसे' कार्य/क्रिया करने की है, जिससे कि वैसी धर्मक्रियाका 'अहम्' उत्पन्न न हो। जब तक पर्यायदृष्टि वर्तती है तब तक पर्यायमें होनेवाली ज्ञान व व्रतादि सम्बन्धी विशेषता, प्रायः अभिनिवेशको भी साथ साथ उत्पन्न करती है; जो दर्शनमोह वृद्धिका कारण है। अतएव यदि उक्त यथार्थ प्रकारसे—पूर्णताके लक्ष्यपूर्वक—कोई भी धार्मिक कृत्य करने में आये तो ही अभिनिवेशसे बचा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

धार्मिक क्षेत्रमें भी इस महत्त्वके विषयके प्रति प्रायः अनभिज्ञता

वर्तती होनेसे ही अधिकतर जीव शास्त्रज्ञान प्राप्त करके अथवा तप-त्यागादि करके भी सम्यकूत्वादि मार्गको प्राप्त नहीं होते। जिसका कारण, ज्ञानीकी आज्ञासे नहीं अपितु स्वयंकी कल्पनासे मनमानी धार्मिक प्रवृत्ति करनेसे दर्शनमोह वृद्धिगत होता है—वह है। यद्यपि धार्मिक क्रियाओंसे चारित्रमोह यत्किंचित् मंद होता है, तथापि उसीके 'अहम्'से दर्शनमोह—मिथ्यात्व तीव्र हो जाता है, जो संसारपरिभ्रमणका मूल है।

यहीं यह जान लेना भी अति आवश्यक है कि जिस जीवको शुद्धअंतःकरणसे जन्म-मरणके चक्रसे छूटना हो, उसे ही 'पूर्णताका लक्ष्य' निश्चित होता है। अतः धर्मके इच्छुक सभी जीवोंको सर्व प्रथम अपने अंतःकरण की जाँच करनी आवश्यक है। जब तक अंतःकरणकी शुद्धतापूर्वक 'पूर्णताका लक्ष्य' सुनिश्चित करनेमें न आये तब तक जीव जो भी धार्मिकप्रवृत्ति करे उसमें यथार्थता ही उत्पन्न नहीं होती है। ऐसी स्थितिमें, सभी भाव—आत्मकल्याणकी इच्छा आदि—उपर उपरसे होते हैं, तब उनका फल कहाँ से प्राप्त हो ? परन्तु जिसका अंतःकरण शुद्ध है यानी कि जिसे छूटना ही है उसे कौन बाँध सकता है ? उसे बाँधनेमें कोई समर्थ नहीं है। यह सहज समझमें आए ऐसी बात है।

इस 'पूर्णताके लक्ष्य'को परम कृपालुदेव श्रीमद्जीने 'दृढ मोक्षेच्छा' कही है। उन्होंने पत्रांक-२५४ में यों फरमाया है कि—दृढ मोक्षेच्छा न होनेपर 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न नहीं होती और यही जीवका सबसे बडा दोष है। प्रकृतिगत दोष अनेक प्रकारके हैं, उन सबको यहाँ गौण करके उन्होंने इस 'सबसे बडे दोष' की ओर ध्यान आकर्षित किया है और 'मुमुक्षुता'का स्वरूप दर्शाया है : **'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षके लिये ही यत्न करना !'**

मोक्ष माने 'पूर्णता', इसका 'लक्ष्य' अर्थात् ध्येय—जिसे है, वही वास्तवमें 'मुमुक्षु' है; वही धर्मका पात्र है। उसे ही संसारके सर्व प्रकारके मोह–प्रसंगोंके आसक्तिके भावमें कहीं भी रस नहीं आता बल्कि उसे अकुलाहट होती है। उसके कारण उसे उनसे छूटनेकी वृत्ति सहज ही हो जाती है। जिससे वह सर्व प्रकारके मोह-प्रसंगोंमें कहीं भी नहीं फँसाता है। जिसका एकमात्र कारण यह 'मोक्षका ध्येय है।' परन्तु जिसे ऐसा 'ध्येय' निश्चित न हुआ हो उसे तो मोह-प्रंसगोमें मोहरस उत्पन्न हो आता है जिससे वह बंधनको प्राप्त होता है।

श्री 'आत्म-सिद्धि शास्त्र'की गाथा-३८ और गाथा-१०८ में उन्होंने 'यथार्थ मुमुक्षुता' के स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए 'मात्र मोक्ष अभिलाष' शब्दके द्वारा उक्त ध्येयका संकेत किया है। जीवनका ध्येय, कोई भी उदय-प्रसंगमें विस्मरण न होनेसे उसे 'लक्ष्य' कहनेमें आया है, जो स्मृति-विस्मृतिसे परे है। यह तो सभीके अनुभवगम्य है कि लक्ष्यमें निरंतर रहते पदार्थके लिये स्मृतिकी अपेक्षा ही नहीं रहती।

अब, जिसे ऐसा 'पूर्णताका लक्ष्य' हुआ हो वैसे मुमुक्षुजीवका सहज परिणमन कैसा होता है, हो जाता है, यह विचारणीय है : उस जीवको, कार्यसिद्धि हेतु गंभीरता होती है तथा कार्यके प्रति लगन व उत्कंठा रहती है। उसे सहजता (अकृत्रिमता); तथा स्वरूपप्राप्तिकी अंतरकी गहराईमें से उत्पन्न हुई भावना व अपूर्व जिज्ञासाजन्य अंतरशोधकवृत्ति रहती है। उसको निजावलोकन द्वारा स्वच्छंदकी हानि होकर पात्रता प्रगटी है। उसे प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत विषयको जुदा करने हेतु सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टि और स्वकार्यमें आगे बढनेके लिये वीर्योल्लास वर्तता है। उसको गुणरुचि व समयके सदुपयोगके प्रति खटक/सावधानी रहती है। सन्मार्गके निमित्त तथा गुणोंकी खान ऐसे वीतराग देव-शास्त्र-गुरु और सत्पुरुषके प्रति उसे अत्यंत समर्पण, विनय, भक्ति, बहुमान वर्तता है। उसे आत्मजागृतिपूर्वक उदासीनता, वैराग्य और उपशम दशा प्रवर्तती है। उसे विकल्पमात्रमें दुःख लगता है तथा उसकी समझमें कही भी अयथार्थता नहीं रहती। स्वयंकी गुरुताको गोपित रखनेकी उसकी वृत्ति रहती है। उसे ब्रह्मव्रतमें प्रीति होती है। उसे आहार-विहार-निहारमें नियमितता रहती है। उसे अपनी प्रकृतिपर नियंत्रण रहता है। उसको गहरे मंथनपूर्वक तत्त्वकी सुविचारणा चलती है। उसे सरलता सर्वोपरि रहती है। ऐसी उत्कृष्ट योग्यतावान मुमुक्षुको प्राप्त हुई निर्मलता द्वारा उसे सत्पुरुषकी पहचान होनेसे उसे उनके प्रति परमेश्वर बुद्धि, एकनिष्ठता और सर्वार्पण बुद्धि समुत्पन्न होती है जिससे उसके दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे भूमिकाके अन्य संभाव्य दुर्गुणोंका अभाव तथा अनेक प्रकारके विपर्यास (—कुतर्क करनेकी वृत्ति, शंकाशीलता, लौकिक व शास्त्रीय अभिनिवेशता, ओघसंज्ञा, लोकसंज्ञा, कुतूहलवृत्ति, भेद-प्रभेदकी रुचि, अतिपरिणामीपना, स्वच्छंदप्रवृत्ति, सिद्धिमोह, शुष्कता, कुसंग व असत्संगरुचि, दोषका पक्षपात, सांप्रदायिक बुद्धि, मताग्रह इत्यादिक)का अभाव वर्तता है।—जिससे उसे उत्कृष्ट पात्रता प्राप्त हो जाती है। ऐसी पात्रतासे,

उस मुमुक्षुको अपने ज्ञानमें वर्तते ज्ञानस्वभावके भावभासनपूर्वक, त्रिकाली परम सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे स्वयंके स्वरूपके लक्ष्य होने की योग्यता संप्राप्त हो जाती है। जिससे उसे पूर्णपदकी निःशंकता उत्पन्न होकर सर्वोत्कृष्ट पात्रता प्रगट होकर उसके परिभ्रमणका अभाव होता है।—ऐसी परमोत्कृष्ट दशाका बीज 'पूर्णताके लक्ष्य में निहित है।

जिसे स्वरूप-लक्ष्य होता है उसकी सर्वपरिणाम-प्रवृत्ति स्वरूपलक्ष्यसे ही होती है। जिसमें मुख्यतया स्वरूपसन्मुखताके पुरुषार्थपूर्वक भेदज्ञानका परिणमन है। यह भेदज्ञानका पुरुषार्थ ही स्वानुभवको उत्पन्न करता है या सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, जो कि मोक्ष अर्थात् पूर्णताका बीजभूत है।

इस भाँति पूर्ण पवित्र सिद्धपदकी प्राप्तिकी श्रृंखलाका आधार एकमात्र 'पूर्णताका लक्ष्य' है। अतः यह सूत्रावतार एक परम सत्यका प्रकाशन है, जिसका उद्‌भव स्वानुभवकी गहन गुफामेंसे हुआ है।

आसन्न भव्यजीवको ही निजहितकी सुविचारणा स्फुरित होती है। उसे ही अनंतकालसे परिभ्रमण करते-दुःखी हो रहे ऐसे अपने आत्माके प्रति करुणा आती है और वही जीव उससे मुक्त होनेका अधिकारी होता है। वैसे अधिकारी जीवको पूर्णताका लक्ष्य सुनिश्चित होते ही उसे ऐसा लगता है कि : मेरे इस महान ध्येयको प्राप्त करनेमें, मुझे अभी 'बहुत बाकी है' मेरा कार्य पूरे का पूरा शेष है, तदर्थ आयुष्य अल्प है, अतएव मेरा कार्य शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो, वैसी त्वरासे, अन्यत्र कहीं रुके बिना, मुझे मेरा हित साध लेना चाहिए!—ऐसी उसे निजहितकी लगन लगती है। ऐसी लगन कोई कृत्रिमतासे लगाई नहीं जा सकती है। सहज लगन, तालाबेली (उत्कंठा रूप होनेसे उसमें तीव्र उत्सुकता होती है। जहाँ तीव्र उत्सुकता होती है वहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता गौण होनी सहज है। इस भूमिकाके ऐसे सहज परिणामों द्वारा, तथा उल्लिखित आनुषंगिक परिणामों द्वारा स्वयंको अपने 'पूर्णताका लक्ष' सुनिश्चित होनेकी खातरी हो सकती है। ऐसे 'पूर्णताके लक्ष्य'से यदि मुमुक्षु अपने जीवनकी शुरुआत करे तो ही वह उसके जीवनका 'मंगल प्रारंभ' है। और ऐसे 'मंगल प्रारंभ'में सर्व सिद्धि समाई हुई है। ॐ

□

परिणमनमें अभिप्रायकी भूमिका

'अभिप्राय' ज्ञानकी एक विशिष्ट प्रकारकी पर्याय है। वह जीवके समग्र परिणमनमें अनेक प्रकारसे महत्त्वपूर्ण भूमिकायें निभाती हैं। सांसारिक व्यवहारमें भी व्यक्तिकी विचक्षणताका परिमाण - 'सामनेवाले व्यक्तिके अभिप्रायको पकड़नेकी शक्ति'से – किया जाता है। यहाँ उसकी चर्चाका प्रसंग नहीं है। यहाँ तो उसके विविध पहलुओंसे, पारमार्थिक लाभ-नुकसान को विचारने हेतु यह लेख प्रस्तुत है।

'अभिप्राय' शब्दका प्रयोग मुख्यतः दो प्रकारके अर्थमें होता है – (१) आशय अथवा दृष्टिकोण; जो कि विवक्षित/अभिप्रेत विषय/प्रसंग तक ही सीमित है। (२) स्थायी निर्णय; जो कि ज्ञानका श्रद्धा/निर्णयप्रधान परिणमन है। अतः जहाँ जो प्रकरण हो वहाँ तदनुसार अर्थ ग्रहण करना योग्य है।

आत्मकल्याणके मार्गके शोधक जीवके लिये 'अभिप्राय'का विषय अति महत्त्वका है; क्योंकि अभिप्रायका विपर्यास ही ज्ञानका विपरीत अभिनिवेश है और वही श्रद्धा व आचरणके सम्यक् होनेमें मुख्य अवरोधक है। इसीलिये 'अभिप्राय'की भूलको पूरी भूल गिननेमें आई है। तथा अभिप्रायपूर्वक किये गये दोषको अक्षम्य माना जाता है।

अतएव मुमुक्षुजीवका यह प्रथम कर्तव्य है कि वह सर्व प्रथम अपने अभिप्रायकी भूलोंको सत्संग व स्वाध्यायसे निरस्त करे। और तत्त्वज्ञानके अभ्यास द्वारा यथार्थ अभिप्रायको गढ़नेका सतत उद्यम करे। जिससे वह यथार्थ श्रद्धाका कारण बने। और वैसे श्रद्धा- ज्ञानपूर्वक समीचीन आचरण की संप्राप्ति होवे।

उक्त अनुक्रमको न समझनेसे भी जीव, अपनी बाह्य दृष्टिकी प्रधानताको लेकर, अभिप्राय के दोष को दूर किये विना ही त्याग-वैराग्य अंगीकार करता है, वह कार्यकारी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि 'अभिप्रायका विपर्यास'ही सबसे बड़ा विपर्यास है। ऐसा सर्व ज्ञानियोंका अभिमत है।

जहाँ अभिप्रायका विपर्यास निरस्त होकर यथार्थ अभिप्राय बनता है वहाँ तदनुरूप योग्यता स्वयं पल्लवित होती है। 'अभिप्राय'को अनुसरण करके उत्पन्न होते परिणामोंका यही सिद्धांत है। जैसे कि धर्मप्राप्तिके

अभिप्रायवान जीवको धर्मात्माओंके प्रति बहुमान/भक्ति सहज स्फुरित होती है, भूलसे भी उसके अभक्तिके परिणाम नहीं होते। परन्तु यदि अभिप्रायका दोष रह गया हो तो उससे कदाचित् उसके अभक्तिके परिणाम हो जाते हैं। जिसने 'पूर्णताका लक्ष्य' निर्धारित किया हो उसे आत्मकल्याणका अभिप्राय बन जानेसे, उसके आत्मकल्याण होवे वैसे उस भूमिकाके अनुषंगी परिणाम सहज ही उद्भव होने लगते हैं।

तथा, अभिप्राय व श्रद्धाके कारणकार्यका संबंध होनेसे, किसी भी जीवके अभिप्रायको समझनेसे उसकी श्रद्धाको समझा जा सकता है और वैसी समझ उस व्यक्तिके साथ संग करने या न करने हेतु निर्णय करने में उपयोगी होती है।

अशुभभावका दोष स्थूल होने से वह जीव के ख्यालमें आ जाता है, परंतु स्व-परके अभिप्रायका दोष सूक्ष्म होने से वह प्रायः खयालमें नहीं आता, अतः उसकी ओर विशेषरूपसे ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा जीव अनजानेमें, शास्त्रअध्ययन द्वारा भी अपने अभिप्रायको पुष्ट कर लेता है जिससे भारी नुकसान हो जाता है। वास्तविकता तो यों है कि शास्त्रकर्ताके अभिप्रायके अनुसार, वहाँ अपने अभिप्रायको गढ़ना चाहिए – यही शास्त्र अध्ययन की यथार्थ रीति / पद्धति हे।

तथा, अभिप्राय अनुसार ही परिणमनमें मुख्यता – गौणता वर्तती है। उसमें मुख्य, वह निश्चय होना चाहिए। अन्यथा पर्याय/व्यवहार ऊपर मुख्यता के कारण, वजन चले जाने पर, वह व्यवहार साधन के बजाय साध्यकी जगह ले लेता है। और इस भाँति अनजानेमें भी, अनिवार्यरूपसे व्यवहाराभासकी उत्पत्ति हो जाती है। ऐसी अभिप्रायकी भूल, जो अल्प-सी दिखलाई देती है परंतु वह पूरेपूरी भूल है। यहाँ पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीका निम्न वचनामृत ('द्रव्यदृष्टि प्रकाश' बोल - २७८) गवेषणीय है :-

"[अभिप्रायकी] जरा-सी भूल, वह भी पूरी भूल है। 'पर्याय ध्यान करनेवाली है, और 'मैं' तो ध्यानकी विषयभूत वस्तु हूँ; पर्याय 'मेरा' ध्यान करती है, 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं हूँ। 'मैं' ध्यान करूँ इस बातमें और 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं, 'मैं तो ध्यानका विषय हूँ' – इस बातमें जरा-सा फेर लगता है, परन्तु है रात-दिन जितना बड़ा फेर। [एकमें पर्याय-दृष्टि रहती है जबकि दूसरेमें द्रव्यदृष्टि होती है, इतना बड़ा फेर है।]"

तथा, यदि कथनकर्ताके अभिप्रायको छोड़कर, किसी भी कथनको समझने जायेगा, तो वैसेमें उस कथनका अनर्थ हो जायेगा। जैसे कि कोई हितेच्छु कठोर वचनमें उलाहना दे तो भी उसके अभिप्रायको समझने से दुःख नहीं होता है। उसी प्रकार किसी भी वचन को यथार्थ समझने हेतु यदि वक्ताका अभिप्राय समझमें आ जाए तो समझकी भूल नहीं होती है।

यदि जीव, सर्व प्रथम शुद्ध अंतःकरणसे आत्मकल्याणके अभिप्रायपूर्वक धर्मप्रवृत्ति करे तो कहीं भी विपरीतता तो नहीं होती, वरन् विपरीत श्रद्धा – दर्शनमोहका बल भी अवश्य क्षीण होता है। यदि अभिप्रायकी यथार्थता नहीं हो तो सर्व साधन बंधनके कारण हो जाते हैं और वहाँ आत्मश्रेयका कोई उपाय नहीं रहता। अतः सर्व प्रथम अभिप्राय की शुद्धि अति आवश्यक है।

तथा, शास्त्र के सभी कथन पूर्वापर अविरोधी ही होते हैं। पूर्वापर अविरोधिता, यह ज्ञानीकी वाणीका मुख्य लक्षण है। उनकी वाणी, सर्वत्र आत्महितको केन्द्रमें रखकर व्यक्त होती है. परंतु जिस जीवको उसमें विरोध भासित होता है, तो यह स्पष्ट है कि उसने अपने आत्महितका अभिप्राय ही गढ़ा नहीं है जिससे उसे समाधान नहीं होता और अनेक स्थानों पर विरोध भासता है। अतएव तत्त्वाभ्यास करनेवाले मुमुक्षुके लिए यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि ज्ञानीके वचनों में निहित आशयप्रधानता, भलीभाँति समझमें आनेपर, उसे उन ज्ञानी व उनके वचनों और शैली के प्रति अवश्य ही बहुमान स्फुरित होता है तथा उनके वचन अतिशयके भी दर्शन होते हैं।

उपदेशके परिप्रेक्ष्यमें विचार करते हुए, तथा पारमार्थिक उपदेशश्रवण करते हुए भी, वह उपदेश परिणमित नहीं होनेका कारण, वैसा अभिप्राय है। जो निम्न दृष्टांत द्वारा विचारणीय है –

पारमार्थिक सिद्धांत ऐसा है कि "ज्ञान, आत्मामेंसे आत्माको आत्मासे होता है" इस प्रकारके श्रीगुरुके वचन 'बराबर हैं' ऐसा मुखसे कहे, तथापि 'श्रवणकालमें प्रत्यक्ष लाभ होता है' ऐसा लगे, तो वैसेमें 'परसे लाभ' का अभिप्राय घुटाता है तथा दृढ होता है। वहाँ ऊपर ऊपरसे तो 'परसे लाभ नहीं होता' ऐसा कहे परंतु उस जीवके अंदर अभिप्राय में, तो लाभवृद्धि प्रवर्तती है जिसका ख्याल उसे स्वयंको नहीं आता है।

उसी प्रकार अध्यात्मके सिद्धांतमें देव, शास्त्र, गुरु तथा श्रवण – वांचन, (विकल्पात्मक) विचार – मनन, ज्ञानका क्षयोपशम व एक समयकी पूर्व पर्यायको और वैसे ही जिन-जिनको व्यवहारसे धर्मसाधनरूप कहनेमें आता है, वे परमार्थसे (– निश्चयसे) बाधकरूप हैं—ऐसा अभिप्राय गढनेमें न आये, तब तक 'प्रयत्न' उसी प्रकारके बहिर्मुख परिणाममें प्रवर्तता रहता है, जिसके कारण वह, वैसी बहिर्मुखतासे विमुख होकर अंतर्मुख—त्रिकाली स्वभावकी ओर आ नहीं सकता। कारण कि 'अभिप्राय' में उन उन तथाकथित बाह्य साधनोंको ही सत्य साधनके रूपमें माननेसे उनकी अधिकता ही बनी रहती है जिससे वह अंतर्मुख हो नहीं सकता।—इस भाँति परिणमनमें मुख्यता बनाये रहनेमें 'अभिप्राय'का ही बड़ा योगदान है।

मुमुक्षुजीवको अधिक गुणी मुमुक्षुके प्रति तथा गुणातिशयवंत सत्पुरुष – श्रीगुरु और सत्‌देवके प्रति सहज बहुमानका भाव वर्तता है, स्फुरता है; क्योंकि वह स्वयं ही वैसे गुणोंकी प्राप्तिका तीव्र अभिलाषी है। वहाँ गुणप्राप्तिका अभिप्राय, योग्य अभिप्राय होने पर भी, अन्य जीव-पदार्थके प्रति राग करनेका अभिप्राय उचित नहीं है, करने योग्य नहीं है। यद्यपि मुमुक्षु-भुमिकामें राग होना संभवित होनेसे वहाँ गुणज्ञताके साथ प्रशस्त राग सहज ही उत्पन्न होता है। परंतु रागका सहज होना, और अभिप्रायपूर्वक राग करना अथवा राग करनेका अभिप्राय होना, इसमें पूर्व-पश्चिम जितना अंतर है। जिन्हें अभिप्रायपूर्वक वैसा राग होता है उन्हें तो 'राग-रस' चढ़ जाता है और साथ ही राग करनेका 'विपरीत अभिप्राय' भी दृढ़ हो जाता हे। परंतु यदि अभिप्रायविरुद्ध राग हो तो उसके प्रति सहज निषेध-खेद आता है। वस्तुतः 'अभिप्राय'में परपदार्थकी महत्ता-महानता का स्वीकार हो जाये तो वह निज अनंत सामर्थ्यके अस्वीकारने जैसा भारी दोष है, जो स्वरूपश्रद्धानका प्रतिबंधक है। इसीलिए ज्ञानदशामें अभिप्रायकी भूल नहीं होती। ज्ञानीको सच्चे निमित्तों—पंच परमेष्ठी आदि के प्रति मचक आती है तो भी वे उनसे लाभ नहीं मानते हैं।

जो कोई जीव रागके अभाव करनेका इच्छुक हो उसे प्रथम सर्व परपदार्थोंके प्रति इष्ट-अनिष्टत्वका अभिप्राय निरसन करना आवश्यक है। परपदार्थ तो ज्ञेय मात्र हैं, उनमें इष्ट – अनिष्टपना है हीं नहीं; तथापि अनादि विपरीत अभिप्रायके कारण उनमें भला – बूरा लगता है, वह

कल्पना है, भ्रान्ति है; जो स्वरूपविपरीततारूप अभिनिवेश है। जब तक 'अभिप्राय'में परपदार्थ के प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि वर्तती है तब तक उदयकालमें आत्मजागृति उत्पन्न ही नहीं होती। तथा अस्तिका (– आत्मप्रत्ययी) पुरुषार्थ ही नही चल सकता। अतएव सर्वप्रथम अनुभवपद्धति—प्रयोगपद्धति द्वारा 'अभिप्राय' पलटे तब ही ज्ञायकपनेका – अस्तिका पुरुषार्थ उभरता है और वह सफल होता है। इस प्रकार ज्ञाता भावसे – साक्षीभावसे रहने के पुरुषार्थमें 'अभिप्राय'की भूमिका का विशेष महत्त्व है।

जब तक जीव 'बंधबुद्धिसे' यानी कि 'मैं कर्मजनित पर्यायवाला हूँ' ऐसे अभिप्रायमें वर्तता हो तब तक उसे अपना मूल स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है। ऐसेमें भी · जो अपनेको अबंध-ज्ञायकस्वरूपमें कल्पना द्वारा माने तो उसे निश्चयाभासकी उत्पत्ति होती है ओर वह कर्मप्रसंगको सुख-दुःखरूपसे अनुभव करता है। वहाँ विपरीत अभिप्रायसे उत्पन्न सुखाभासको दूर किये बिना अस्तिका-ज्ञायकका पुरुषार्थ उपड़ता ही नहीं है। ज्ञायकतत्त्वकी परलक्ष्यी धारणापूर्वक विकल्प या वाणीमें चाहे जितना ज़ोर देनेमें आये तो भी उससे सफलता नहीं मिलती। क्योंकि वह मात्र कृत्रिम पुरुषार्थ है। और वैसी कृत्रिमतासे कार्यसिद्धि होती ही नहीं है। अतः सिद्धांत ऐसा है किः 'मुक्त होनेका अभिप्राय गढ़ाये बिना 'बंधबुद्धि' नहीं छूटती।'' इसीलिये जीव, परमें सुख बुद्धिके कारण, निरंतर बंधन को प्राप्त होता रहता है। 'यह बंधबुद्धि सुखबुद्धिरूप अभिप्राय' मुमुक्षुकी भूमिका की योग्यताको रोकता है, आवरित करता है, मलिन करता है। जहाँ अभिप्रायपूर्वक शाताके कारण रुचते हैं, प्रिय लगते हैं वहाँ मुमुक्षुकी योग्यता नष्ट होती है, जिससे वह निजश्रेयके मार्गमें गतिमान् नहीं हो सकता है। तथा स्वयं ही निरालंब – निरपेक्षपने अनंत अव्याबाध, अचिन्त्य सुखस्वरूप है—ऐसा उसे भासित नहीं होता है। अत एव उक्त 'अभिप्रायकी विपरीतता' आत्मश्रेयमें किस किस प्रकारसे अवरोध खड़े करती है, वह गहराईसे विचारणीय है।

तथा, जब तक अभिप्रायपूर्वक परमें सुख अनुभवाता है तब तक परिणामोंकी दिशा—वृत्तिका प्रवाह बहिर्मुख ही बना रहता है। जिससे अंतर्मुख हुआ नहीं जा सकता है। अंतर्मुख होने की इच्छा भी सफल नहीं होती तथा अंतर्मुख होनेके प्रयोजनसे किये ध्यानादिके प्रयोग भी निष्फल जाते हैं। अतः भेदज्ञानके प्रयोग द्वारा (केवल विकल्प नहीं),

निज चैतन्य-तत्त्वमें सुखका अभिप्राय प्रथम गढ़नेमें आये तब ही परविषयोंमें सुखका अभिप्राय नष्ट होकर, उनसे सहज उदासीन होकर, जीवकी वृत्तिका प्रवाह सहज ही अंतर्मुख ढलता है। इस भाँति जीवके परिणामोंकी दशा पलटनेमें अभिप्रायकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

परमें—पुद्गलमें सुखबुद्धिके कारण जीवका अभिप्राय, एक ही साथमें जगत के सर्व – अनंत पदार्थों को प्राप्त करने व भोगने का होता है। परंतु वैसा बनना अशक्य है। तथापि विपरीत अभिप्रायके कारण जीवको अनेक पदार्थोंकी इच्छायें व उन इच्छाओंकी पूर्ति हेतु अनेक प्रकारके उपाधियुक्त परिणाम होते ही रहते हैं। जिन्हें लेकर जीवको अज्ञान अवस्थामें अनंत दुःख है।—इस प्रकार अभिप्रायका विपर्यास अनंत दुःखको उत्पन्न करता है। जब तक भेदज्ञानपूर्वक आत्मामें सुखबुद्धि न हो तब तक यह दुःख दूर नहीं होता, और इच्छाओंका निरोध हो नहीं सकता जिससे आकुलता बनी ही रहती है।

तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले जीवको यदि 'अभिप्रायकी भूल' रहे तो उसे व्यवहाराभासीपना अथवा निश्चयाभासीपना अथवा प्रमाणका पक्ष हो जाता है। जिससे, तत्त्वज्ञान का अभ्यास सम्यक्त्व प्राप्तिका निमित्त होनेपर भी, वह निष्फल होता है। मात्र आत्महितके अभिप्रायसे तत्त्वाभ्यास हो तो वैसी भूल नहीं रहती है। अतः तत्त्वाभ्यासी जीवको अंतर सूक्ष्म अवलोकनसे अपने अभिप्रायकी जाँच कर लेनी चाहिए। अन्यथा बुद्धिपूर्वक की भूल होने से मिथ्यात्व तीव्र होकर गृहीतमिथ्यात्व उत्पन्न होता है।

मुमुक्षुजीवको निर्विकल्पदशा, मुनिदशा, मोक्षदशा आदि अध्यात्म/शांतदशाकी भावना होती है। परंतु 'यह दशा ध्रुवस्वरूपके आश्रयसे सहज होती है' ऐसा यथार्थ अभिप्राय हो, तो सहज वैसी पर्याय की योग्यता हो जाती है। अन्यथा पर्यायकी कर्ताबुद्धि सहित भावना होती है, उसमें अभिप्रायकी भूल रही होने से, वह भावना सफल नहीं होती। बल्कि पर्यायबुद्धि तीव्र हो जाती है। अतएव भावनाप्रधानी न होकर अभिप्रायप्रधानी होनेसे 'योग्यता' सहज ही उत्पन्न होती है। पर्यायबुद्धिके निषेधके लिए ही परमागमोंमें पर्यायके प्रति उदासीनता तथा 'क्रमबद्धपर्याय'के न्यायोंका प्रतिपादन हुआ है।

उसी प्रकार, शास्त्रोंमें मुमुक्षुकी भूमिकामें सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानमें, उनके प्रतिमानुसार के पंचम गुणस्थानमें तथा मुनिदशामें छट्ठे गुणस्थानमें

व्यवहार के परिणामोंका निरूपण किया हुआ है। वहाँ निश्चय रत्नत्रयरूप वीतरागताके सद्भावके कारण उस उस कक्षाके रागका अभाव हुआ है, ऐसा दर्शनिका अभिप्राय रहा है। जो स्वयंकी दशाके साथ मिलान करनेके प्रयोजनार्थ होनेसे उसे जानना जरूरी है। परंतु वैसे राग-परिणाम करनेका अभिप्राय नहीं है। कदाचित् शास्त्रोंमें उपदेशबोधकी शैलीसे वचन-व्यवहारसे 'व्यवहार करना' ऐसा प्रतिपादन हुआ हो तथापि, योग्यतावश वैसा उस कालमें सहज(– कर्तृत्व बिना) राग होता है—ऐसा दर्शनिका अभिप्राय जानने योग्य है। उसके बदले 'ज्ञानीको भी राग होता है' ऐसे बहाने से, मुमुक्षुको राग करनेका अभिप्राय पुष्ट होवे तो उसे आस्रवकी भावना होकर, स्वरूपका निषेध हो जाता है। अथवा रागका आदर होकर स्वभावका अनादर होता है। अतः शास्त्राभ्यास करनेवाले मुमुक्षुको, जाननेके विषय की खतौनी आदरने के विषयमें न होवे, ऐसी सावधानी रखना हितावह है। जिस प्रकार राग करनेके अभिप्रायमें, आस्रवकी भावना द्वारा स्वभावका निषेध होता है; उसी प्रकार पूर्ण शुद्धिके अभिप्रायमें, आत्मभावना द्वारा स्वभावका आदर रहा है।—इस भाँति आत्महित – अहितके प्रकरणमें उल्टे – सीधे अभिप्रायका बहुत बड़ा आधार (Role) है।

तथा, जीवके 'अनुमोदना विषयक परिणाम' अभिप्रायपूर्वक ही होते हैं। अतः इस विषयमें विशेष लक्ष्यमें लेने योग्य यह है कि : जब किसी भी अन्य जीवके दोषित/विराधक परिणामोंकी जाने-अनजानेमें अनुमोदना हो जाती है, तब तत्संबंधित आस्रव शुरू हो जाता है। और जब तक वह 'अनुमोदना विषयक अभिप्राय' यथार्थ प्रकारसे निरस्त नहीं होता तब तक वैसा आस्रव बंद नहीं होता। तत्संबंधी अनुमोदनाके गर्भमें विपरीत अभिप्राय समाया हुआ है, जो महाअनर्थसर्जक है; कारण कि वह दोषदृष्टि है; जो गुणदृष्टि (स्वभावदृष्टि)को उत्पन्न ही नहीं होने देता। अर्थात् जीवकी अनादिसे जो दोषदृष्टि प्रवर्तती है वह उक्त विपरीत अभिप्रायसे विशेष पुष्ट/दृढ़ हो जाती है और फलस्वरूप स्वभावदृष्टि प्रगट होनेमें वह विशेष प्रतिबंधक होती है। इसीलिये जिसकी निजहितके प्रयोजनकी दृष्टि तीक्ष्ण और सूक्ष्म होती है उसे ही उक्त प्रकारकी अनुमोदनामें निहित ऐसे इस महादोषकी तथा उसकी गंभीरताकी समझ पड़ती है जिससे वह किसीके भी दोषकी, नवकोटिसे अनुमोदना नहीं करता।

तथा, जब कोई भी बात अन्यकी ओरसे प्रस्तुत करनेमें आती है, तब वैसी प्रस्तुतिमें, प्रस्तुतकर्ताका स्वयंका अभिप्राय अथवा सम्मति शामिल रहती है। वहाँ यदि अभिप्राय न पकड़नेमें आये तो प्रस्तुतकर्ता अनजानेमें मायाचारका सेवन कर लेता है। जैसे कि जीव अन्यके नामसे (समाजभयसे, समाजके बहानेसे), सत्यका अस्वीकार करता है तब उसमें अपना अभिप्राय भी समाया हुआ रहता है; अतः उसमें अनुमोदनरूप दोष हो जाता है।

तथा, मुमुक्षुको 'अभिप्राय-दोष' संबंधित अज्ञानताके कारण भी कार्यपद्धति/विधिकी भूल होती है, जिसे अत्यंत गंभीरतासे लक्ष्यगत करना चाहिए। जैसे कि, परमस्वरूपका आत्मीयभावरूप 'भावभासित' हुए बिना, यानी कि रागकी ओट बिना—स्पष्ट अनुभवांशसे स्वसन्मुखतामें स्वयं स्वभावरूपसे लक्ष्यगत हुए बिना, चैतन्यवीर्यकी स्वरूपप्रत्ययी सहज स्फुरणा उद्भव नहीं होती; तबतक जीवकी 'पर्यायमें अहंभावरूप' बुद्धि वर्तती रहती है। और वैसी स्थितिमें, यानी कि 'पर्यायमें स्वपना' रखकर, धारणामें अर्थात् रागकी प्रधानतायुक्त विचारधारामें ली गई/कल्पित वस्तुका चिंतवन-घूँटन आदि करके जीव वैसे अयथार्थ प्रयासको पुरुषार्थ मानकर, उसमें ठीकपना अनुभव करता है।—ऐसे कृत्रिम प्रयत्न/पुरुषार्थके अभिप्राय निरस्त किये बिना, यथार्थ विधि ग्रहण किये बिना, कदापि कार्यसिद्धि होती ही नहीं। परंतु वैसेमें प्रायः नुकसान ही होता है। अभिप्रायकी भूलके कारण, मुमुक्षुजीव भी, भीतरमें अपने आत्मस्वरूपको न देखनेसे, तत्त्वश्रवण-वांचन करते करते आत्मलाभ होनेका अभिप्राय रखता है और वैसी शुभराग-प्रधान प्रवृत्ति/राग करते करते कार्यसिद्धि (— सम्यक्त्वादि) होनेके अभिप्रायवश, वैसी प्रवृत्तियोंको बढ़ाता है; जो विधिकी भूल है। मुमुक्षुतामें मोक्षार्थीको शुभ-प्रवृत्तियोंका 'सहज होना', एवं वैसी प्रवृत्तियाँ करनेका 'अभिप्राय होना';—दोनों प्रकारोंमें बडा भारी फर्क है। वास्तवमें तो स्वलक्ष्यपूर्वक तत्त्व-श्रवण होते ही अंतर्मुख होनेका प्रयास शुरू होना चाहिए। एवं जब तक वैसा न होवे तब तक उसे, 'कार्य किस भाँति सिद्ध हो' ऐसी जिज्ञासामें रहना हितकर है। यानी कि, जब तक सत्यमार्गकी प्राप्ति न होवे तब तक उसकी जिज्ञासा और शोधकवृत्तिमें रहना उचित है।

तथा, मिथ्यादृष्टिजीवको पर्याय व संयोगमें उलट-फेर करनेका अभिप्राय होता है; जिससे वह वैसा कृत्रिमपुरुषार्थ (कर्तृत्वभावपूर्वक) करता रहता है;

तथापि 'जो होना होगा वह होगा'— ऐसा मात्र धारणासे कहे, तो वह प्रकार यथार्थ नहीं है।—ऐसे अभिप्रायके कारण, जीवको निष्क्रिय चैतन्यस्वभावकी दृष्टि हो नहीं पाती। और वैसी सम्यक् दृष्टिके अभावमें, सहज स्वाश्रित पुरुषार्थ स्फुरित नहीं होता। विकल्पात्मक पुरुषार्थ असहज/कृत्रिम पुरुषार्थ है; उसमें भी 'विधिकी भूल' निहित है।

तथा जब तक तत्त्वज्ञानाभ्यास कर्ताकी बाह्य दृष्टि हो, तब तक उसका ऐसा अभिप्राय बना रहता है कि शास्त्र वांचन द्वारा अथवा श्रवण द्वारा समाधान होगा; जिससे वह, 'सर्व समाधानका भंडार, त्रिकाली चैतन्य द्रव्य वर्तमानमें ही मैं हूँ'—ऐसी अभेद दृष्टि नहीं कर सकता।

'ऐसी' अभेद दृष्टि होनेके पश्चात् भी प्रश्नरूप विकल्प होता है, तथापि वैसे विकल्पसे भिन्न, 'ज्ञानक्रिया' जो सहज स्वाश्रित वर्तती है, वह स्वयं समाधानरूप है; उसमें बाह्यसे/परसे समाधान प्राप्ति हेतु प्रश्नको लम्बानेका अभिप्राय नहीं रहता। कारण कि उन्हें समय-समयकी 'अहेतुक योग्यता'का ज्ञान इस प्रकारसे वर्तता है कि, जिससे उस योग्यतामें उलट-फेर करनेका अभिप्राय नहीं होता है। उसी भाँति वर्तमान 'योग्यता' भी त्रिकाली स्वरूप सन्मुखतामें वृद्धिगत होकर, पूर्ण अभेद होकर, सर्वांग समाधान हो जायेगा—वैसी प्रतीति, उक्त अभिप्रायमें गर्भित है। अतएव भावलिंगी मुनिराज भी आचार्य महाराजको प्रश्न करे उस क्षणिक विकल्प कालमें भी, 'समाधान' बाह्यसे होगा अथवा होना ही चाहिए—ऐसा 'अभिप्राय', उनको प्रश्नकालमें भी नहीं होता।

तथा, जीवके विकारी परिणाममें 'मिथ्या अभिप्राय'का बलवान आधार होनेसे उसे दूर करना दुष्कर है। तथापि जिस जीवका अभिप्राय सम्यक् हो तो उसके विभावकी कमर टूट जाती है। अतएव जिसकी विभावशक्ति क्षीण हुई है ऐसे धर्मात्माको विभाव लम्बे समय तक जीवित ही नहीं रह सकता; बल्कि वह अल्पकालमें विलय हो जाता है। कारण कि जब पूर्व संस्कारवश उन्हें क्षणिक विभाव उत्पन्न हो जाता है तब उसका उसी क्षण अभिप्रायमें निषेध वर्तता है।

तथा, जिस प्रकार राग करनेका अभिप्राय एकान्तिक निषेध्य है उसी प्रकार परसत्तावलम्बी ज्ञानके व्यापारका अभिप्राय भी एकान्तिक निषेध्य है। कारण कि उपयोग बाहर जाने पर रागकी उत्पत्ति अवश्य होती है। अतः परसत्तावलंबनशील ज्ञान मोक्ष-साधक या आत्म-साधक नहीं होता। यद्यपि कार्यपद्धतिमें क्रमविपर्यास न रहे इसलिये, तथा

छद्मस्थअवस्थामें अनिवार्यरूपसे उपयोगकी बाह्य प्रवृत्ति रहती होनेसे, देवादिका बाह्य आलंबन लेनेके संबंधमें विवेक करनेका प्रतिपादन करनेमें आया है; तथापि वह, अभिप्रायके दृष्टिकोणसे तथा वैसा आलंबन बाधकरूप होनेसे, स्वीकार्य नहीं है। अभिप्रायमें तो प्रथमसे ही परसत्तावलंबनताका निषेध ही होना चाहिए। अन्यथा विधिकी भूल होनेसे वहाँ दर्शनमोह वृद्धिगत हो जाता है। यद्यपि धर्म-प्रवृत्ति दर्शनमोहके मंद होनेमें निमित्त है; यथापि यदि उक्त प्रकारसे अभिप्रायकी भूल रह जाये तो उलटा दर्शनमोह तीव्र हो जाता है और उसके कारण मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती। तथा भ्रमणावश बंधमार्गको मोक्षमार्ग मानकर, उसकी उपासना कर, जीव संसार बढ़ाता है।

तथा, स्वयंका मूल स्वरूप त्रिकाली ध्रुव, परमस्वरूप, अपरिणामी और अक्रिय है। परिणाम स्वयं परिणमनशील है जो वस्तुका अंग है। जो स्वयं परिणमन कर रहा हो, उसे परिणमन करानेका 'मिथ्या अभिप्राय' परिणामके एकत्वको उत्पन्न करता है, जिससे स्वयंको 'परिणाम मात्ररूप' अनुभवमें लेनेमें आता है, वह पर्यायदृष्टिरूप मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टिको तो 'मैं वर्तमानमें ही अपरिणामी हूँ' ऐसी द्रव्यदृष्टि वर्तती होनेसे, उसके अभिप्रायमें, सर्व परिणाम गौण हो जाते हैं। ज्ञान-पुरुषार्थ आदि सर्व गुण अपना अपना स्वाभाविक कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकारसे अपरिणामी तत्त्वके अभिप्रायमें सर्व क्रिया करनेकी उपाधि शांत हो जाती है।

तथा, कोई मुमुक्षुजीव अपने आत्मस्वरूपको विकल्पप्रधानतासे समझता है; और वैसे समझमें लिये हुए स्वरूपकी एकांतमें एकाग्रता करने हेतु— निर्विकल्प आनंदके अनुभव हेतु आशा रखता; वहाँ स्वयंको अनुभव हुवा या नहीं ? ऐसे विचार चलते हैं।—ऐसे प्रकारमें, अनुभव होनेके पूर्व, अनजानेमें स्वयंके कल्पित अनुभवसे, अनुभवमें संतोष करनेका अभिप्राय निहित रहता है, जो पर्यायबुद्धिके कारण होता है।

परंतु ज्ञानीका तो ऐसा अभिप्राय रहता है कि, दशा निरंतर निर्विकल्प रहे तो भी, स्वभावकी मुख्यतामें, उसकी मुख्यता करने योग्य नहीं है; कारण कि स्वभाव स्वयं ऐसा ही कोई महाआश्चर्यकारी महिमावंत है। तथा जैसा परिपूर्ण स्वरूप है तैसी ही दशा होनी वैसा आत्मस्वभाव है ही। और वैसा स्वभाव वर्तमानमें ही कार्यशुद्धिके कारणस्वरूप जिन्हें प्रत्यक्ष है, उन्हें उत्पाद-अंशकी शुद्धता-अशुद्धताकी विकल्पना-चिंता नहीं रहती, नहीं होती।

वैसी चिंता तो पर्यायबुद्धिवालेको मिथ्यादृष्टिके कारणसे होती है। अभिप्रायकी ऐसी सूक्ष्म भूल तत्त्वाभ्यासी जीवोंको गवेषणीय है।

अंतमें, श्री जिनशासनकी तीर्थ-प्रवर्तनका 'अभिप्राय'के दृष्टिबिंदु (View Point) से विचार करते हुए ऐसा समझनेमें आता है कि : जो महाभाग्य आत्मा, आत्माके आनंदामृतके आस्वादका अनुभव करती है, वह उसीमें—आत्मानंदमें ही निमग्न रहना चाहती है। वैसे धर्म-जीवका अन्य सर्व संसारी जीवोंके प्रति ऐसा सहज-स्वाभाविक अभिप्राय होता है कि : 'जगतके समस्त जीव ऐसे निजानंदको संप्राप्त हों, समयमात्रके अनवकाशसे निजानंदके कारणको और उस कारणके कारणको भी प्राप्त हों।' इस सिद्धांतके मूर्तिमंत साक्षीस्वरूप, त्रिलोकनाथ परमात्मा श्री ऋषभदेवादि सर्व तीर्थंकर देव हैं। इस ही कारणसे श्री जिनशासन प्रवर्तित हुआ है, प्रवर्तित है और प्रवर्तता रहेगा।

ॐ शांति

□

भक्ति

यद्यपि हर एक सम्प्रदायने 'भक्ति'को रूढिगतरूपसे मान्य किया है। और तदर्थ प्रायः भजन, संकीर्तन, पद्यरचना और गाना-गववाना इत्यादिक प्रकारसे प्रवृत्तियाँ भी करनेमें आती हैं। तथा कहीं तो प्रभु व गुरुसेवा/समर्पणतादि प्रकारोंको भी भक्तिके रूपमें स्वीकारा जाता है। तथापि भक्तिको मात्र इतनी ही मर्यादामें मान्य करना योग्य नहीं; क्योंकि इसकी गहनता अत्यंत परमार्थ हेतुभूत है। अतः इस विषयको, अति गंभीरतापूर्वक, अनेकविध पहलुओंसे निज आत्मश्रेयार्थ विचार करना चाहिए। इसी परिप्रेक्ष्यमें यहाँ यत्किंचित् विचार प्रस्तुत हैं—

सर्वप्रथम यहाँ 'भक्ति'के विषयमें यह गवेषणीय है किः लोकमें प्रायः 'भक्ति'को रूढिअर्थ अनुसार शुभरागकी प्रवृत्ति/पर्याय समझी-मानी जाती है। कारण कि अधिकांश धार्मिकक्षेत्रमें ओघसंज्ञापूर्वक रागमय भक्तिकी प्रवृत्ति प्रचलित है। परंतु वास्तवमें यदि 'भक्तिका मूल' अन्वेषण किया जाए तो वह केवल रागमय परिणाम नहीं है; बल्कि जो मुमुक्षु सर्व प्रकारकी मोहासक्तिसे अकुलाकर, एक मात्र पूर्ण शुद्धिके लिये ही प्रयत्नवंत है, ऐसे अधिकारी मुमुक्षुके ज्ञानमें, धर्म और धर्मात्माके अंतर स्वरूपकी पहचान द्वारा, उनका मूल्यांकन भासित होनेसे, उसके ज्ञानमें उनके प्रति सहज ही बहुमान स्फुरायमान होता है, और वैसा 'ज्ञान' ही वास्तवमें 'भक्तिका मूल' है, 'स्वरूप' है। अतएव प्रस्तुत संदर्भमें यों फलित होता है किः भक्तिको जिस रूढिअर्थमें केवल शुभरागकी ही पर्याय समझने – माननेमें आती है वह पर्याप्त नहीं है। परंतु यदि वस्तुस्थितिसे उसके मूलस्वरूपके बारेमें सोचा जाए तो यह सहज स्पष्ट हो सके ऐसा है कि, वैसा प्रकार ज्ञानकी पर्याय है; क्योंकि उसमें यथार्थ समझ/ मूल्यांकन का प्रभुत्व प्रगट है।

तथा, भक्तिका लक्ष्यार्थ तो आत्मा, निजपरमात्मभावमें एकरूप (तदाकार) हो जाये वह है। स्वयंका अनंत सामर्थ्य यानी कि अपना साक्षात् सिद्धपद, अपने स्वरूप-सन्मुख ज्ञानमें प्रतिभासित होनेपर, अपने अनंत महिमावंत-परम पदार्थके प्रति परम महिमा अर्थात् 'उसरूप' भक्ति उत्पन्न होकर, अभेददशा संप्राप्त हो जाए तब आत्मा निजपरमात्मभावमें

एकरूप होता है; और वैसी स्वानुभूतिमें 'सर्वजिनशासनकी भक्ति और बहुमान' समाहित हो जाता है। इसीलिए धर्मात्माओंने उसका बहुत बखान किया है।

उसी भाँति 'भक्ति'के लक्ष्यार्थमें परमार्थ समाया हुआ होनेसे, तथा वह सर्व दोषोंकी निवृत्तिकी हेतुभूत होनेसे, उसे (भक्तिको) परम कृपालु श्रीमद् राजचंद्रजीने 'श्रेष्ठ मार्ग' कहा है।

अतएव मुमुक्षुको भक्ति के प्रकरणकी, उसके आशयकी स्पष्टता के लिये और लक्ष्यार्थ हेतु उसके यथार्थ स्वरूपको गुरु गम द्वारा समझकर, उसका अवगाहन करना परम आवश्यक है।

अब यहाँ उल्लेखनीय है कि : 'भक्ति'के मुख्य दो भेद हैं—व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति। तथा उसके विशेष भेद अनेक हैं।

✹ **व्यवहारभक्ति :** सद्देव प्रति की भक्ति, सद्गुरु और सत्श्रुत-सिद्धांत प्रति की भक्ति। उसी तरह साधर्मी प्रतिकी भक्ति। यह व्यवहारभक्ति, अनादि संसार प्रतिकी भक्तिका निषेध करती है।

✹ **निश्चयभक्ति :** निज परमात्मस्वरूपके सम्यक् रत्नत्रयमय-परिणामरूपसे परिणमन करना। ऐसे परिणामका निरूपण, अध्यात्मशास्त्रोंमें विविध शैली द्वारा करनेमें आया है। अध्यात्मरससे सराबोर भावोंसे, इस निश्चयभक्तिका प्रतिपादन करनेवाले संतों और महात्माओंका आंतरिक व्यक्तित्व वंदनीय है, अभिवंदनीय है। यह निश्चयभक्ति, व्यवहारभक्तिका निषेध करती है, कारण कि यह उससे पर है।

- तथा, भक्तिमें अनेक गुण – धर्म होनेसे, सत्शास्त्रोमें तद्विषयक विविध भेदोंका अनेक नामसे उल्लेख देखनेमें आता है। यथा : १. नामभक्ति। २. सकामभक्ति। ३. निष्कामभक्ति। ४. आश्रयभक्ति ५. प्रेमभक्ति। ६ मार्गभक्ति। ७. पराभक्ति। ८. अभेदभक्ति। ९. रहस्यभक्ति। १०. योगभक्ति। ११. निर्वाणभक्ति। १२. श्रुतभक्ति।—इनका संक्षिप्त वाच्यार्थ निम्न है : –

❒ **नामभक्ति :** कथानुयोगमें श्रीतीर्थंकरादिपुराणपुरुषोंके चरित्रों द्वारा उनके उपकारका स्मरण होता है। तथा उनकी दृढ़ आत्मनिष्ठता और भीष्म पुरुषार्थके दर्शन होनेपर उनके प्रति बहुमानके परिणाम स्फुरायमान होना, वह नामभक्ति है।

ऐसा प्रकार व्यक्ति-राग नहीं है अपितु वह गुणानुराग है। जिसमें वैसे सर्व गुणवान महात्माओं प्रतिका भक्तिभाव समाविष्ट है। एक महात्माके

आदरमें, वैसे सर्व (महात्माओं)का आदर, स्पष्ट अभिप्रायपूर्वक अभिव्यक्त होता है; वह ज्ञानादि गुण प्राप्तिका कारण है।

❑ **सकामभक्ति :** भौतिक पदार्थोंकी कामना – निदानपूर्वक की जानेवाली भक्ति, वह सकामभक्ति है। इससे ज्ञानको आवरण आता है। इसमें अशुचि आदि दोषोंका संभव है। और वह संसार परिभ्रमणका कारण होनसे त्याज्य है।

❑ **निष्कामभक्ति :** सर्व प्रकारकी कामना/ आसक्ति रहित परिणामसे, अपने आत्मकल्याणमें निमित्तभूत ऐसे पंचपरमेष्ठी, सत्पुरुष और उनकी वाणीरूप श्रुत-सत्शास्त्रोंके स्वरूपको पहचानकार उनके प्रति अत्यंत उल्लसित भाव होना, वह निष्कामभक्ति है। ऐसी भक्ति स्वयं पवित्र होनेसे वह आत्मगुण बृद्धिका तथा दोष निवृत्तिका कारण है। निःस्पृहताके आश्रयसे अनेक गुण समुत्पन्न होनेसे उसका विशेष महत्त्व है।

❑ **आश्रयभक्ति :** मुमुक्षु/ आत्मार्थीजीव को विद्यमान सद्गुरु – सत्पुरुषकी पहचान और प्रतीतिपूर्वक, सर्वार्पणबुद्धिसे उस महापुरुष के चरण-शरणके आश्रयसे वर्तनेका दृढ़ निरधार हुआ हो; वह प्रकार ऐसा कि उसे उस महापुरुषकी विद्यमानतामें तो उनके चरण-सान्निध्यमें निरंतर वास करनेका अभिप्राय तो वर्तता ही हो किंतु यदि वैसे रहना बनता न हो अथवा उनकी अविद्यमानता – परोक्षता अथवा विरह हो तब वह आश्रयभाव विशेषरूपसे दृढ़तर हो, वह आश्रयभक्ति है।

अनादिसे जीवमें जो मान और स्वच्छंद जैसा रूढ/प्रबल महादोष प्रवर्तता है, उसे टालना बहुत दुष्कर है। तथापि वैसे महादोष भी बैसी आश्रयभक्तिसे सहज मात्र में नाश होकर, आर्जवता (सरलता) और मार्दवता (नम्रता) आदि गुण प्रगट होते हैं। उसी भाँति मार्गप्राप्तिकी परम योग्यताकी संप्राप्ति होती है। जितने प्रमाणमें आश्रयभक्ति दृढ़ हो उतने ही प्रमाणमें सत्पात्रता प्रगट होती है।

❑ **प्रेमभक्ति :** सुपात्रतावश मुमुक्षुको ज्ञानी धर्मात्माकी पहचान होने से, उनके प्रति अत्यंत प्रेम-परिणामोंका प्रवाह निरंतर प्रवाहित रहे, और "पर प्रेम प्रवाह बढे प्रभुसे"—ऐसा परिणाम सत्पुरुषके प्रति सर्वार्पणबुद्धिसे उत्पन्न हो, वह प्रेमभक्ति है।

इस परिप्रेक्ष्यमें पूज्य श्री सोभाग्यभाई एक जीवंत उदाहरण हैं। परम कृपालु श्रीमद्जी स्वयं लिखते हैं कि "श्री सोभाग्य प्रेमभक्तिमें झूल रहे हैं।" दोनोंके बीच एक क्षणका भी वियोग पुसाता नहीं था।

सत्पुरुषके प्रति इस प्रकारका प्रेमभाव आत्मरुचिका द्योतक है और वह समभक्तिका भी बीज है।

तथा, अंतरमें गुणनिधानरूप निज आत्मस्वरूपकी स्पष्ट अनुभवांशसे पहचान होने पर, स्व-रूपकी अनन्य रुचि उमड़ना, वह निज प्रभुकी प्रेमभक्ति है, जो समकित की अंगभूत है।

❑ **मार्ग भक्ति :** मोक्षमार्गमें स्थित सर्व धर्मात्माओंके प्रति बहुमानके परिणाम होना, मार्गभक्ति है। उसी भाँति जिनके अंतरमें त्रिलोकनाथ वश हुए हैं, ऐसा होनेपर भी जो बाह्यमें अटपटी दशासे रहते हैं, यानी कि इतनी अधिक समर्थता होनेपर भी जिन्हें गर्व नहीं है, गारव नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप सत्पुरुषके प्रति; एवम् स्वरूपगुप्त हो जानेसे जो बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ दशासे बिराजमान हैं, ऐसे उनके परम संयमके प्रति; भक्तिके परिणाम सहज ही उल्लसित होते हैं, वह मार्गभक्ति है।

तथा अंतरमें सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्रकी उपासना हेतु उल्लसित वीर्यके परिणाम, निश्चयमार्ग भक्ति है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, जिनके दर्शनमोहका अभाव वर्तता है, ऐसे मोक्षमार्गमें विचरण करते महात्माओंके प्रति मुमुक्षुजीवको विनय – बहुमान होने पर उसके दर्शनमोहका अनुभाग घटता है, जिससे उसको मार्गकी निकटता होती है।'मार्गभक्ति' यह गुरु-भक्ति है अर्थात् महान् पुरुषकी भक्ति है।

❑ **पराभक्ति :** चरम सीमाके भक्ति – महिमाके परिणाम होना, पराभक्ति है। जब आत्माको अपने अनंत महिमावंत स्वरूपकी पहचान होनपर, स्वरूप-महिमा वृद्धिगत होकर, तादात्म्य भाव होता है, वह पराभक्ति है। उसे 'सर्वार्थसिद्धि'में स्वरूप-भावनारूप भक्तिकी संज्ञा दी है।

❑ **अभेदभक्ति :** स्वस्वरूपके आश्रयसे आत्माके सर्व परिणामों का अभेदभाव से परिणमित होना, अभेदभक्ति है। निज परमात्माके साथ अभेदता सधानेपर, स्वरूप संबंधी कोई भेद-विकल्प(शेष) नहीं रहता है और निर्विकल्पदशा संप्राप्त होती है। आत्मा, अनंत दिव्य गुणोंसे भरितावस्थ है। गुण, परस्पर भिन्न भिन्न होनेपर भी वे आत्मीयरूपसे अभेद हैं। ऐसे अभेदस्वरूपकी दृष्टिमें, गुणभेदकी अपेक्षा भी निरस्त हो जाती है। तथा सर्व भावसे अभेदता सधाती है।

❐ **रहस्यभक्ति :** श्री जिनवाणीमें व्यवहार और निश्चय भक्तिका प्रतिपादन हुआ है, उसमें रहस्य समाया हुआ है। वह रहस्य यदि लक्ष्यगत हो, तो जीव सुगमतासे परमार्थको संप्राप्त होता है। ज्ञानमार्ग द्वारा तथा क्रियामार्ग द्वारा परमार्थ साधनेमें जो दुराराध्यता है वह भक्तिमार्ग द्वारा नहीं होती, यही भक्तिका रहस्य है । यद्यपि ज्ञानका मूल्य (विशेषता) सर्वविदित है तथापि "भक्ति बगैर ज्ञान शून्य है"—प.कृ.देव श्रीमद् राजचंद्रजीका यह वचनामृत, विस्मरण करने योग्य नहीं है। जहाँ ज्ञान यथार्थ होता है वहाँ भक्ति-भाव अविनाभावीरूपसे समुत्पन्न होता है। तथा जहाँ शुद्ध अंतःकरणसे भक्ति-भाव स्फुरायमान होता है वहाँ ज्ञानकी सहज निर्मलता होती है, मोहका बल क्षीण होता है। जीवको मार्गकी प्राप्ति में जो सबसे भारी प्रतिबंधक कारण है वह 'मोह' है; उसका निरसन, उक्त प्रकारकी भक्ति के परिणामों द्वारा सुगमतासे होता है।—इस रहस्यभूत कारणकी सिद्धि, रहस्यभक्ति है। जिसे ऐसा भक्ति-रहस्य यथार्थरूपसे समझमें आए तो उसे भक्तिमार्ग के प्रति जुगुप्सा नहीं होती, प्रत्युत वह इस रहस्यभक्तिकी सिद्धि/उपासनार्थ विशेष उद्यमवंत होता है। ऐसे आत्मार्थी जीवके जीवनका एकमात्र लक्ष्य पहलेसे ही पूर्ण शुद्धिका होनेसे वह राग-प्रधानतासे, ओघसंज्ञामें रहकर रागमें नहीं रुकता। तथा उसे अपने भावोंका अवलोकन, आत्मजागृतिपूर्वक, निरंतर वर्तता है।

उक्त भक्तिका यह रहस्य है कि : वैसी यथार्थ भक्ति द्वारा दर्शनमोह व स्वच्छंदकी हानि, और मल – विक्षेपादि दोषोंकी निवृत्ति सहजरूपसे और सुगमतासे होती है।

अनेक महान् आचार्योंने श्री तीर्थंकरदेवके स्तोत्र व स्तवन द्वारा गहन तत्त्व/सिद्धांतोका प्रतिपादन किया है। अनेक धर्मात्माओंने भी द्रव्यानुयोगके परम गंभीर और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवचन रहस्यको निर्ग्रंथ गुरु या परम गुरुके नामसे स्तवनादिमें समाया है, गाया है।—ऐसी रचनाओंको, मात्र उनका राग मानना उचित नहीं है। अपितु वह तो उनका स्तुतिपात्र विवेक है।

आत्मार्थीजीवके श्रद्धा व ज्ञान निर्मल होनेका पूरकतत्त्व, रहस्यमयी ढंगसे, भक्ति होती है उक्त प्रकारकी समीचीन/यथार्थ समझ, वास्तवमें रहस्यभक्ति है।

❐ **योगभक्ति** : श्रीमद् पद्मप्रभमलधारीदेवने, इस शब्दका प्रयोग श्री 'नियमसार' परमागमकी टीकामें किया है। उन्होंने भक्ति – अधिकारमें, 'उपयोग का परमस्वरूपमें युक्त होना' उसे योगभक्तिकी संज्ञा दी है। गाथा : १३७ – १३८में कहा है कि : अखंड परमानंदस्वरूपमें युक्त (जोड़ने)रूप योगभक्ति, वह मुनीश्वरोंनी निर्वाणकी हेतुभूत है। और इसी मार्गसे सर्व मुनीश्वर निर्वाणको प्राप्त हुए हैं। तथा गाथा – १३९में अन्य विवक्षासे ऐसा निरूपण किया है कि : जिनोक्त तत्त्वोंमें आत्माको लगाना, योगभक्ति है। इसी प्रकार ऐसे परिणामोंको अन्यत्र 'समाधिभक्ति'की भी संज्ञा दी गई है।

❐ **निर्वाणभक्ति** : सम्यक् रत्नत्रय-परिणामोंका जो भजन है वह 'निश्चयभक्ति' है। (—श्री 'नियमसार'गाथा – १३४). यह निश्चयभक्ति निर्वाणकी कारणभूत होनेसे उसे 'निर्वाणभक्ति' कही है! इस भक्ति द्वारा स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

सिद्धपदके अभिलाषी जीवोंके द्वारा, अपने आदर्शस्वरूप, निर्वाणको संप्राप्त ऐसे सिद्ध परमात्माकी भक्ति, सिद्धभक्ति है। ऐसी भक्ति, व्यवहारभक्ति है; उसमें अपने सिद्धपदके स्मरणका अभिप्राय गर्भित है।

❐ **श्रुतभक्ति** : श्री सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वरदेव, श्री गणधरादि निर्ग्रंथ गुरुभगवंत और मूर्तिमान आत्मज्ञानस्वरूप सत्पुरुषोंकी वाणी, द्रव्यश्रुत है। उसकी उत्पत्ति आत्मकल्याणरूप स्वरूपानुसंधान सहित हुई होनेसे वह, जिसकी काललब्धि पक गई है ऐसे जीवोंके आत्मकल्याणमें यानी कि भावश्रुत प्रकट होनेमें निमित्त बनती है। और उसमें इस प्रकारका निमित्तत्व सदैव विद्यमान होनेसे उसकी पूज्यता सुविदित, सुप्रसिद्ध और सर्वमान्य है। इस तरह द्रव्यश्रुतरूप जिनवाणीके प्रति पूज्यबुद्धिपूर्वक बहुमानके परिणाम, श्रुतभक्ति है। श्री 'समयसार कलश टीका' (कलश-२)में श्री जिनवाणीको 'सर्वज्ञस्वरूपअनुसारिणी' कहकर उसकी पूज्यता दर्शायी है।

'साभार धर्मामृत' अध्यात्म-२ गाथा ४४ में यों कहा है कि "जो भक्तिपूर्वक श्रुत (जिनवाणी)की पूजा करते हैं, वे मनुष्य वास्तविकमें जिनेन्द्र भगवानकी पूजा करते हैं, क्योंकि गणधरदेवने जिनवाणी और जिनेन्द्र देवमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं कहा है।"

मोक्षमार्गी धर्मात्मा छद्मस्थ अवस्थामें होनेपर भी उनकी वाणी, निज

अंतर् सर्वज्ञस्वभावको स्पर्श कर, सहजभावसे व्यक्त होती होनेसे वह वाणी, सर्वज्ञस्वरूपअनुसारिणी होती है। तीनों कालके सर्व ज्ञानियोंकी वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ उपदेशक, अपूर्व अर्थका निरूपण करनेवाली होती है और अनुभवसहित होनेसे उसमें एक परमार्थका ही आशय सन्निहित होनेसे वह वाणी, आत्मार्थीके लिए परम उपकारभूत निमित्त है। अतएव वह पूजनीय है, अभिवंदनीय है।

श्रुतभक्त और प्रभावनाअंगधारक सर्व सम्यग्दृष्टि महात्माओंको ऐसी भावना, श्रुतभक्तिके कारण, वर्तती ही है कि : जीवोंके कल्याण हेतु ऐसी परम उपकारभूत वाणी, अर्थात् सत्श्रुतका अधिकसे अधिक प्रचार-प्रसार हो कि जिसके निमित्तसे सर्व जीवराशि संसारक्लेशसे परिमुक्त हो। इसी भाँति ऐसी भावना, ज्ञानीके मार्गको दृढ़तासे अनुसरण करनेवाले मुमुक्षुको भी होती है।

श्रुतभक्तिसे मुमुक्षुजीवके दर्शनमोहका अनुभाग घटता है और उससे ज्ञानादि भावोंमें निर्मलता/विशुद्धता प्राप्त होती है।

यद्यपि बाह्यमें उपास्यको कर्ता आदि बनाकर भक्ति की जाती है। परंतु अंतरंग भावोंके सापेक्ष होनेपर ही यह (भक्ति) सार्थक है अन्यथा नहीं। आत्मस्पर्शी भक्ति ही सच्ची भक्ति है। भक्ति, मोक्षमार्गका प्रधान अंग है। इसकी महत्तावश समर्थ आचार्योंने भी भक्तिपाठ रचे हैं। उदाहरणार्थ : प्राकृतमें भक्तिपाठ आचार्य कुंदकुंददेव और पद्मनंदिदेव कृत उपलब्ध हैं। तथा संस्कृतमें भक्तिपाठ आचार्य पूज्यपाद स्वामी और श्रुतसागरजी, द्वारा रचित उपलब्ध है। जिनागममें साधुओंकी नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके प्रयोगमें आनेवाली तेरह प्रकारकी भक्तियोंका वर्णन भी मिलता है। इसी भाँति साधुकी आहारदानके समय नवधा भक्ति, तथा साधुके नित्यके कृतिकर्ममें चतुर्विंशतिस्तवका भी वर्णन मिलता है।

अंतमें, अनेक दोषोंकी निवृत्ति और आत्मार्थीके योग्य अनेक गुणोंकी उत्पत्तिका कारण समझकर भक्तिका महत्त्व अवधारणीय है।

उल्लेखनीय है कि, प.कृ. श्रीमद् राजचंद्रजीने अति सुंदर और अभिनव भाव-प्रयोग द्वारा फरमाया है कि : ज्ञानी गुरुकी भक्ति शुद्धाचरणसे प्राप्त होती है। अथवा ज्ञानीकी आज्ञा, उसकी उपासनारूप सद्वर्तन, ज्ञानीपुरुषकी भक्ति है। जिस जीवको ज्ञानीके मार्गपर चलनेका दृढ़ निश्चय हो, वह अवश्य संसार चक्रसे छूट जाता है। ऐसे भक्तिवान जीवको, पात्रताके अंगभूत वैराग्य, सरलता, नम्रता, क्षमा आदि गुण

सहज मात्रमें उद्भव होते हैं। जिससे क्रोधादि चारों ही प्रकृतियाँ स्वयमेव उपशांत होती हैं। जीवको अनेक प्रकारके प्रतिबंधोके निरसन हेतु भक्ति एक सुगम साधन है। यद्यपि आत्मज्ञानके बिना सर्व दोषों और दुःखोका क्षय नहीं होता; अतः उनकी दुर्घटताको देखकर, निष्कारण करुणाशील ऐसे सत्पुरुषोंने आत्मज्ञानका कारणभूत ऐसा जो भक्तिमार्ग, उसको प्रकाशित किया है; जो सर्वको सुगमतासे शरणरूप है।

जिसके कारण जीवको परमें अपनत्व हो रहा है ऐसा जो अहंभाव, कि जिसकी निवृत्ति होना अति दुष्कर होता है; उसकी निवृत्ति होकर, अन्यत्र कहीं रुकना न हो, सर्व विकल्प मिटे और सर्व सिद्धि संप्राप्त हो, उसके लिए सरल/सुगम साधन—आत्मकल्याणकी संपूर्ण ग़रज़से उत्पन्न—भक्ति है। यहाँ ध्यातव्य है कि भक्ति साधन है, साध्य नहीं, साध्य तो पूर्ण पवित्र निर्वाण पद है।

मोक्षमार्गकी प्राप्तिके सिवा जन्म–मरणका अंत नहीं आ सकता है। और मोक्षमार्गकी प्राप्ति योग्यता बिना संभव नहीं है। तथा योग्यताकी प्राप्ति सरलता, वैराग्य, भक्ति सहित सत्संगकी उपासनासे होती है। अतएव मोक्षमार्ग व उसकी समीपता हेतु योग्यता गढ़ना परम आवश्यक है।

जो अध्यात्मविद्या सद्गुरुके परम विनयसे प्राप्त होती है, वह विनय, भक्तिकी ही आचरणरूप पर्याय है। और वैसे आचरणको नवधा भक्ति कही है।

- उल्लिखित व्यवहार और निश्चय—दोनों प्रकारकी भक्ति अत्यंत प्रयोजनीय है। अतः आत्मश्रेयके अभिलाषी जीवको, भक्तिके स्वरूपको यथार्थरूपसे समझ कर उसको भलीभांति अंगीकार करना चाहिए। मात्र पद्य/भजन गाने-गववाने की रूढि, 'भक्ति'का पर्याप्त स्वरूप नहीं है; अतएव वैसे प्रकारमें ही अटकना योग्य नहीं है।

ॐ शांति.

❐

आत्म-संतुलन

वर्तमान कालमें सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरदेव प्रणीत तत्त्वज्ञानकी परंपरा, संपूज्य आचार्य भगवंतों द्वारा अने वंदनीय ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा संरक्षित रहने से आज भी विद्यमान है; जिसके फलस्वरूप वर्तमान दुषम काल हुण्डावसर्पिणी होनेपर भी 'मोक्षमार्ग' अखण्डरूपसे जीवंत है; जो परम सौभाग्यकी बात है। परम अध्यात्मतत्त्वकी विद्यमानता रही होनेसे, आत्म-कल्याणके अभिलाषी जीव, उसका अभ्यास करते हैं और तत्त्वज्ञानके अभ्यास द्वारा आत्महित साधनेका प्रयास भी करते हैं। तत्त्वाभ्यासमें अनेक प्रयोजनभूततत्त्वकी विचारणा होती है तब ज्ञानमें मुख्यता – गौणता होती है। इस मुख्य – गौणतामें यदि संतुलन-संधान न हो तो अयथार्थता या विपर्यासकी उत्पत्ति हो जाती है।

प्रयोजनभूत तत्त्व स्वयं सूक्ष्म होनेके कारण तदनुरूप उपयोगकी सूक्ष्मता न हो तो विपर्यास होनेकी विशेष संभावना है। वैसा न होने हेतु, यहाँ तत्संबंधी तथ्योंकी चर्चा अपेक्षित है।

यद्यपि आत्मस्वभाव तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है ही; उसी भाँति स्वरूप-प्राप्तिकी विधि भी अत्यंत सूक्ष्म है। ये दोनों विषय परम प्रयोजनीय होनेसे—इनमें यथोचित आत्म-संतुलन रहकर वजन जाये अथवा वे मुख्य-गौण हों – एतदर्थ पूरी सावधानीसे प्रवर्तना आवश्यक है।

सत्शास्त्रोंकी रचना भिन्न-भिन्न शैली एवं विभिन्न दृष्टिकोणोंसे हुई होनेसे उपर्युक्त प्रयोजनभूत तत्त्वोंके कथनोंमें परस्पर अविरोधता होते हुए भी उनमें विरोधाभास दिखलाई देता है। उसमें भी जहाँ जहाँ जो जो उपदेश व सिद्धांतका स्तर हो वह न समझमें आये तब भी विरोधाभास लगता है; जिससे तत्त्वाभ्यासी जीवोंको समाधान न होनेसे उलझन/ अकुलाहटकी संभावना रहती है।

सत्शास्त्रोंकी रचना प्रायः समष्टिगत उपदेशपद्धतिसे होती है। और शास्त्रकर्ता, शासनमें आनेवाले वर्तमान तथा भावी जीवोंकी विविध प्रकारकी योग्यताको अनुलक्ष्य कर, शास्त्रकी रचना करते हैं। उसमें से, शास्त्राध्ययन करनेवाले आत्मार्थी जीवको स्वयंको व्यक्तिगतरूपसे लागू पड़े वैसे विषयको मुख्य करना और शेष विषयको गौण करना उचित है। इस प्रकारसे

यदि प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत विषयका बँटवारा न करनेमें आए तो प्रयोजनभूत तत्त्वके ऊपर लक्ष्य नहीं जाता और फलस्वरूप आत्महित साधनेमें निष्फलता मिलती है। इतना ही नहीं, बल्कि वैसे प्रकारके शास्त्राभ्याससे नुकसान (यानी कि आत्म-अहित) भी हो जाता है।

इसी भाँति, आत्मार्थी जीव समष्टिगत उपदेस श्रवणके प्रसंगमें भी स्वयंकी वर्तती भूमिकाके विकासार्थ प्रयोजनीय उपदेशको यानी कि व्यक्तिगत उपदेशको उपर्युक्त प्रकारसे निथारता (जुदा करता) है। अन्यथा तो प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत दोनों विषयोंकी ज्ञानमें धारणा होनेपर भी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती।

तथा, उपयोगकी सूक्ष्मताका यह सिद्धांत है कि : प्रयोजनभूत विषयमें उपयोग सहज सूक्ष्म होकर प्रवृत्ति करता है। तदनुसार जब तक जीवको संयोगकी और राग/पुण्यकी रुचि होती है तब तक उन उन विषयोंमें उसका उपयोग सूक्ष्मतासे काम करता ही है; ऐसा अनुभव सर्व साधारण है। उक्त सिद्धांतके अनुसार यदि जीवको आत्मकल्याणका प्रयोजन भासित हो तो अध्यात्मतत्त्वकी रुचि प्रगट होकर, उसका उपयोग अध्यात्मविषयकी सूक्ष्मतामें सफलरूपसे प्रवर्त सकता है। आत्म हित – अहितके विषयमें यह आधाररूप बात है। अतएव रुचिके प्रमाणमें निज प्रयोजनभूत विषयमें ज्ञानमें सहज ही सूक्ष्मता उत्पन्न हो जाती है। – यह आत्मार्थी जीवके लिए प्रेरणास्पद तथ्य है।

तथा, आत्मकल्याणका अभिलाषी जीव सर्व प्रथम मोहका अभाव करना चाहता है; परंतु दर्शनमोह और चारित्रमोह किस अवस्थामें किस प्रकाँरसे मुख्य – गौण करने योग्य है, उसकी अनभिज्ञता के कारण, वह विपरीत कार्यपद्धति द्वारा मोहके अभाव करने की प्रवृत्ति करता है; अथवा छोटे दोष (चारित्र मोह)को दूर करने हेतु विशेष भार देता है और बडे दोष (दर्शन मोह) को दूर करना चूक जाता है। चारित्रमोहके परिणाम स्थूल होनेसे वे स्थूल उपयोगवालेको भी जाननेमें आ जाते हैं, जब कि दर्शनमोहके परिणाम सूक्ष्म होनेसे वे जाननेमें नहीं आते। इस कारणसे भी धार्मिक संप्रदायोंमें सर्व प्रथम दर्शनमोह (सबसे बड़े दोष) के अभाव करने के बदले अनेक प्रकारके चारित्रमोहजन्य छोटे छोटे दोषोंके अभाव करनेकी कार्यपद्धति प्रत्यक्ष देखनेमें आती है; जो कार्यपद्धतिका विपर्यास है।

वर्तमान धार्मिक संप्रदायोंमें दर्शनमोहका स्वरूप और उसके अभाव

करने हेतुका कार्यक्रम—इन दोनों विषयोंमें घोर अंधकारमयी स्थिति देखनेमें आती है।—ऐसी स्थितिमें, दर्शनमोहके विभिन्न स्तरोंकी चर्चा-विचारणा हो भी कहाँसे ? परिणामस्वरूप प्रत्येक धार्मिक प्रवृत्तियोंमें कषायकी मंदता (चारित्रमोह मंद) हो, ऐसा प्रचलन है; और उक्त स्थितिमें जाने-अनजानेमें जीवको 'धर्म किये'का संतोष होता है; जो दर्शनमोह वृद्धिकारक है। ज्ञानके क्षयोपशममें या चारित्रमोहके क्षयोपशममें संतुष्ट होना, उसकी महत्ता लगना, उसपर वज़न जाना अथवा 'कुछ किये'की गिनती करना—ऐसे परिणाम, दर्शनमोह वृद्धिकारक परिणाम है; उसकी ख़बर भी न हो तो उसे अभाव करनेका सूझे भी कहाँसे ?

वीतराग जिनेन्द्र परमात्माके मार्गमें तो सर्व प्रथम दर्शनमोहके नाश करनेकी आम्नाय है; उसका उल्लंघन करके यदि कोई जीव प्रथम चारित्रमोहको मंद करता है तो वह स्थिति अल्पकालीन होती है; क्योंकि आगे चलकर वह अनिवार्यतः तीव्र हुये बिना रहेगा नहीं। वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि दर्शनमोहके अभावपूर्वक, गुणस्थान अनुसार क्रमशः चारित्रमोहका अभाव होता है। दर्शनमोहके अभावके पूर्व चारित्रमोहकी निवृत्ति हेतु चाहे जितना त्याग करनेमें आये तो भी वह मोक्षके अर्थ कार्यकारी नहीं होता। क्योंकि वह मोह-नाशका कल्पित उपाय है। सारांश यह है कि मोहके उक्त दोनों प्रकारोंको तथा उनके अभावके क्रमको भलीभाँति समझ कर, उनकी यथार्थ प्रकारसे मुख्यता – गौणता होनी चाहिए।

यद्यपि दर्शनमोहकी तुलनामें चारित्रमोहसंबंधी दोष छोटा (न्यून) है तदपि उस दोषकी कहीं भी अनुमोदना न हो, यह लक्ष्यमें रहना चाहिए; अन्यथा अयथार्थ प्रकारसे चारित्रमोहके दोषको अल्प गिनने पर अनजानेमें दर्शनमोह तीव्र हो जाता है। कारण कि दोषकी अनुमोदनामें 'अभिप्रायकी भूल' गर्भित होनेसे वहाँ स्वयमेव दर्शनमोह आविर्भूत हो जाता है। और उक्त प्रकारमें आत्म-संतुलन-संधान नहीं होता और भारी नुकसान हो जाता है।

तथा, तत्त्वज्ञानके अभ्यास करनेवाले जीवको अभ्यासके दरमियान उलझन होनेके अनेक स्थान हैं; कारण कि शास्त्रमें जिस विषयकी मुख्यता, किसी एक स्थलपर, प्रतिपादित हो उसीको गौणताका प्रतिपादन अन्यत्र दिखलाई पड़ता है। जैसे कि—लक्ष्य होने हेतु स्वभावको मुख्य करके पर्यायकी गौणताका प्रतिपादन है; तथापि अनुभव करानेके अर्थ, विधि विषयक प्रतिपादनमें, वेदनकी यानी पर्यायकी मुख्यता प्रतिपादित

हुई है। इसीभाँति मुमुक्षुजीवको किस प्रकारकी योग्यतामें स्वयंके लिए, उपदेशके अनेकविध वचनोंमेंसे, किस बातको मुख्य करनी योग्य है, तदर्थ कोई स्पष्ट सिद्धांत या नियम देखानेमें नहीं आता; जिससे अनेक जगहोंपर भूल होने की संभावना रहती है और मार्गकी प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।—ऐसी परिस्थितिमें आत्मकल्याणके अभिलाषी जीवको जिज्ञासा उत्पन्न होनी योग्य है कि : 'प्रथम क्या करनेसे कहीं भी भूल न हो'—वैसी मूलभूत प्रवृत्ति क्या हो सकती है ? अवश्य ही यह एक जटिल समस्या है, जिसका समाधान सर्व सामान्यको न मिलनेसे प्रायः जीव उन्मार्ग पर चढ़ जाता है और सन्मार्ग प्राप्तिसे वंचित रह जाता है। परंतु यदि जीव चाहे जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें भी एकमात्र निज आत्मकल्याणका ही लक्ष्य (ध्येय) रक्खे तो अवश्य ही उस जीवको प्रथम विचार यह आता है कि'मुझे आत्मानुभवसिद्ध ज्ञानी पुरुषके चरणसान्निध्यमें रहकर, सर्वथा उनकी आज्ञानुसार चलना है कि जिससे सन्मार्गपर चढेनेके सर्व स्थानोंसे बचा जा सके।' यदि ऐसा यथार्थ भाव न आये तो सन्मार्गकी अनभिज्ञताके कारण मार्ग प्राप्तिकी दुष्करताका भी पार नहीं है। अतएव सर्व शास्त्रोंमें स्वानुभवी श्री गुरुके 'प्रत्यक्ष योग' का अति अति महत्त्व दर्शाया गया है; जो सभी साधकोंके अनुभवका निष्कर्ष है। यह वस्तुस्थिति है। यह कोई निमित्ताधीन दृष्टिकी बात नहीं है। तथा, जीवके यथार्थ/यथोचित पात्रता प्रगट हुये पहले, तथा उसकी दृष्टि बाह्य प्रवर्तती होनेसे, उसे 'ज्ञानीपुरुष' की पहचान समीचीन नहीं होती। यदि कदाचित् ओघसंज्ञासे उसको 'ज्ञानीपुरुषका निर्धार' हुआ हो तो भी, उसे जब ज्ञानीकी बाह्यदशामें पूर्वनिबंधितकर्मोदयवश किंचित् चारित्रमोहजन्य दोष दिखलाई पड़े तब, उसकी मुख्यता हो जानेपर, 'वह निर्धार' टिक (स्थित) नहीं पाता। यहाँ पर भी अल्प (चारित्रमोहके) दोष पर वज़न चले जानेपर, सर्वोपरि दोषके अभावस्वरूप ऐसी महान् 'सम्यक्‌त्वदशा'की यथार्थ पहचान न हुई होने से वह गौण हो जाती है और धर्मात्माकी पवित्र अंतर्दशाकी विराधना/असातना/अवर्णवाद होने जैसा महा दोष उत्पन्न हो जाता है। आत्म-संतुलन चूक जाने पर, उक्त प्रकारसे जीव, अनंत संसार वृद्धि कर बैठता है। परंतु जिसे ज्ञानीपुरुष की अंतरंगदशा, मूलदशा, सम्यक्त्वरूप दशाकी वास्तविक पहचान हुई हो तो उसे उस ज्ञानीपुरुषका 'सर्व आचरण' वंदनीय भासित होता है; इतना ही नहीं अपितु उसको तो चारित्रमोहजनित

तूफानके प्रसंगोमें वर्तती उनकी भिन्नता और अडिगताके दर्शन होते हैं, जिससे उनके प्रति विशेष भक्ति स्फुरायमान होती है। जिसके फलस्वरूप वह मुमुक्षुजीव 'ज्ञानकला' को संप्राप्त कर, स्वभावसमीप होता है।

अब यहाँ आत्म-संतुलनार्थ 'उत्सर्ग और अपवाद' संबंधी सिद्धांत विचारणीय है : यह तो निर्विवाद तथ्य है कि, सर्व साधकजीवोंको सम्यक् एकांतरूपसे वीतरागता (—उत्सर्ग मार्ग) ही उपादेय है, राग (—अपवादमार्ग) तो किंचित्मात्र भी उपादेय नहीं है।—ऐसा सम्यक् अभिप्राय सभी साधकों का होते हुए भी वे मोक्षमार्गमें आगे बढ़ने हेतु अपनी अपनी वर्तमान भूमिकानुसार प्रवर्तमान अपने पुरुषार्थको माप कर, तथा बाह्य द्रव्य – क्षेत्र-काल-भावको देख – समझकर, उन दोनोंके बीच विवेक कर, जिस भाँति आत्म-संतुलन-संधान बना रह सके उस भाँति बाह्य शासनकी एवं द्रव्यसंयमादिकी प्रवृत्ति करते हैं; और वेसी प्रवृत्तिमें 'अपवाद' रूपसे रागादि भावोंका परिणमन होता है। वैसे प्रकारकी उक्त प्रवृत्तिमें (शुद्धिकी वृद्धिके मंदपुरुषार्थवश) रागकी मुख्यता होती दिखाई देती है। परंतु वैसे परिणाम उन्हें हठ बिना, हेयबुद्धिपूर्वक, सहज होते हैं; तथापि उनके 'अभिप्राय'में 'उत्सर्ग'की मुख्यता कभी भी नहीं छूटती।—इस प्रकारसे धर्मात्माओंकी प्रवृत्ति अपवादमार्गके विषयमें होती है, जिसमें अति सूक्ष्मता गर्भित है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि : यदि हठपूर्वक परिणामकी प्रवृत्ति करनेमें आए तो वहाँ निःसंदेहरूपसे 'द्रव्यदृष्टि' विलय होकर, पर्यायबुद्धिका आविर्भाव हो जाता है। और वह मार्गच्युत होकर, अंतमें अति संक्लेशभावको प्राप्त होता है। इसीलिये अपवादमार्गपर प्रवर्त रहे ज्ञानी, वास्तवमें तो वीतरागताकी बुद्धिके आशयकी पूर्ति हेतु ही प्रवर्तन करते है। इसी कारण जिनागममें, मोक्षमार्गके सिद्धांतमें उत्सर्ग और अपवादकी संधि (– संतुलन) का स्वीकार करनेमें आया है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है कि: 'चारित्रगुण क्रमशः शुद्ध होता है'; अत एव साधकअवस्थामें स्वस्थानका राग जाना हुआ प्रयोजनवान है, जो न्यायोचित है।

तथा, आत्मकल्याणका मार्ग तो आत्म-संतुलनका मार्ग है। ज्ञानीपुरुष आत्म-संतुलन पूर्वक निश्चय – व्यवहार दोनों विषयोंमें प्रवर्तन करते हैं और उसीसे वे अंतमें पूर्ण सिद्धिको प्राप्त करते हैं। अतएव ज्ञानीके मार्गपर चलनेवाले मुमुक्षुको भी निश्चय और व्यवहार दोनों विषयोंमे संतुलन रखना चाहिए। यद्यपि निश्चय और व्यवहार विषयक भंग – भेद अनेक

हैं। प्रयोजनवश उनका प्रतिपादन सत्शास्त्रोंमें विभिन्न प्रकारसे करनेमें आया है। यदि उनकी संधि (Co-Ordination) न कर सके, करनेमें न आये, तो वहाँ विपर्यासकी उत्पत्ति अनिवार्य है। किसी प्रकारका विपर्यास कहीं न हो तदर्थ ज्ञानीपुरुषने मुमुक्षुजीवों पर अत्यंत निष्कारण करुणा करके ऐसा सरल व सुगम मार्ग प्रकाशित किया है कि : 'मुमुक्षुजीव सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक ज्ञानीपुरुषके चरणसान्निध्यरूप प्रत्यक्ष सत्संगकी उपासना करनी। यही सर्वशास्त्र लक्ष्य है। और यही शास्त्र-आज्ञा है। और जो शास्त्र-आज्ञा है वही जिन-आज्ञा होती है।

यहाँ ध्यान देने जैसी बात यह है कि : निश्चय – व्यवहारके जो भंग – भेद हैं वे सीखने के या धारणाके या याददास्तके विषय नहीं हैं; अपितु वे विषय तो भूमिकानुसार सम्यक् प्रकारसे परिणमन करनेके हैं। और उन भूमिकाओंमें वे सहज ही होते हैं।

सामान्यतः व्यवहारको गौण करके निश्चयस्वरूपकी मुख्यतापूर्वक स्वरूपकी उपासना करनेका जिन-सिद्धांत है। तथापि निश्चयके विषयमें 'यथार्थ लक्ष्यपूर्वक' यदि दर्शन – ज्ञान – चारित्रकी प्रवृत्ति न हो तो वहाँ निश्चयाभास उत्पन्न होता है। उसी तरह स्वस्थानके प्रशस्त परिणाम होने हेतु और उन भूमिकाओंसे नीचेकी कोटिके परिणामके अभाव हेतु, सत्शास्त्रोंमें व्यवहार विषयक प्रतिपादन अनेक भेद – प्रभेद द्वारा करनेमें आया है। उनकी यथार्थता/यथोचितता न समझनेसे, संतुलन गवाँकर यदि व्यवहारके ऊपर वज़न बढ़ जाए, तो कारण – कार्यकी सम्यकृता/परंपरा टूटकर वहाँ व्यवहारभासकी उत्पत्ति हो जाती है। इन दोनों प्रकारके विपर्यासोंका मूल 'ध्येयशून्यता' या 'ध्येयविपरीतता' है। परंतु जो जीव 'पूर्णता के लक्ष्यसे शुरूआत' करता है उसका तो ज्ञानी[illegible] [illegible]पर चलनेका दृढ़ निश्चय होने से वह अपना ध्ये[illegible] भी नहीं चूकता है; जिससे वह अवश्य तर जा[illegible]

[illegible]भ्यास करनेवाले जीव व्यवहार, निश्चय और

तथा, कितने [illegible] पहलुओंसे वस्तुस्वरूप समझनेका प्रयास भी करते होते प्रमाण [illegible] [प]रंतु कहाँ किसे गौण, और कहाँ किसे मुख्य करना, उस बाबतकी 'सूझ' न होने से, और वैसी 'सूझ' प्रत्यक्ष ज्ञानी बगैर न पड़ती होनेसे, उसमें भूल होती है, विपर्यास होता है, जिससे वहाँ प्रमाणाभासकी उत्पत्ति हो जाती है। यह सबसे बड़ा विपर्यास है। कारण कि : प्रमाणभासी जीवको प्रमाणके विषयका प्रत्यक्ष अनुभव तो नहीं वर्तता

परंतु उसे उस विषयकी जानकारीरूपज्ञान (-मात्र धारणा) होनेसे, स्वयंकी उक्त भूल, स्वयंको दिखाई नहीं देती; और स्वयं 'ज्ञान और क्रिया' दोनोंकी आराधना करता है, ऐसा मानता है; अत एव वैसी भूल मिटनी अति दुष्कर है। वास्तवमें तो सम्यग्ज्ञान प्रमाण ही सच्ची आत्म-संतुलनकी दशा है। उसके अभावमें, प्रमाण के विषयका ज्ञान (धारणा) आगमअनुकूल होते हुए भी, वहाँ प्रमाणाभास होता है। यथार्थतामें तो आत्मा का निश्चयस्वरूप लक्ष्यगत हो तो ही पुरुषार्थ की गति (दिशा) सहज अंतर्मुख होकर, वहाँ स्वभाव-परिणामोंकी रचना स्वतः होती रहती है। और जब तक परिपूर्ण शुद्धदशा प्रगट न हो तब तक भूमिकानुसार सहज (—कृत्रिमता बगैर) व्यवहार-परिणामोंकी प्रवृत्ति हो जाती है; और वैसेमें स्वयमेव आत्म-संतुलन संरक्षित रहता है।

तथा, आत्मकल्याणके मार्गके प्रति गति एवं विकास हेतु ज्ञान और पुरुषार्थकी प्रवृत्ति प्रधान होती है। ज्ञान और पुरुषार्थके बीच कारण–कार्य संबंध है। 'आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान ही आत्मिकपुरुषार्थका उत्पादक है।' आत्माके परिणाम के संबंधमें यह एक वैज्ञानिक परिस्थिति है कि: 'जो ज्ञान आत्मवीर्यको उत्पन्न न करे वह ज्ञान समीचीन नहीं है।'

अनादिसे जीवकी 'ज्ञान-प्रवृत्ति' राग अवलंबित है। और वस्तुस्थिति ऐसी है कि : ज्ञान जिसका अवलंबन लेकर प्रवर्तता है वहाँ अवलंबनके विषयभूत पदार्थोंका आश्रय वह नहीं छोड़ सकता। इसीलिये रागको अवलंबन करके प्रवर्तन कर रहा ज्ञान, रागके विषयभूत पर पदार्थोंका आश्रय नहीं छोड़ पाता। तिसपर भी जीव प्रथम अपने अभिप्रायमें रागके अवलंबन को छोड़े बगैर ही ओघसंज्ञासे, लोकसंज्ञासे या हठयोगसे परप[illegible] त्याग करता है; तथापि वहाँ आत्मकल्याण सिद्ध नहीं होता, हो भी नहीं स[illegible] क्योंकि वह प्रकार सम्यक् मार्ग नहीं है।—ऐसे प्रकारमें, पुरुषार्थका प्रयोग [illegible] नहीं है, कृत्रिम है, और वह मात्र बाह्यक्रियाके एकांतमें परिणमन करता [illegible] और सही ज्ञानके अभावमें, जाने–अनजानेमें असत्का आग्रह, सिद्धिमोह और [illegible] प्रथि[illegible] जैसी अनेक विपरीत वृत्तियाँ आविर्भूत हो जाती हैं। अतः सर्व [illegible] अनादि अवलंबनको पलटने का पुरुषार्थ करना योग्य है।

कोई ज्ञान-प्रवृत्ति (शास्त्राभ्यास) करनेवाला मुमुक्षु भी 'स्वभावके प्रति ज़ोर देना' उसे ही पुरुषार्थका स्वरूप समझता है। परंतु वह प्रकार वास्तवमें पुरुषार्थका नहीं है। बल्कि वहाँ कल्पना किये हुये आत्मस्वरूपके

प्रति कृत्रिम ज़ोर देनेमें, मात्र विकल्प ही चलता है। और वह कल्पित तत्त्वका चिंतवन – मनन, रागकी मुख्यतामें रह करके चलता होनेसे वह विकल्प वृद्धिमें परिणमित होता है। इसलिये निर्विकल्प अनुभवकी प्राप्ति नहीं होती है, संभवित भी नहीं है। किंतु पुरुषार्थ और ज्ञानका संतुलन ऐसे प्रकारका होता है कि : यदि स्वरूपप्राप्तिकी परम अवगाढ भावना हो और स्पष्ट अनुभवांश द्वारा स्वभावका भावभासन हो तो ही स्वभावसन्मुख हुए ज्ञानमें स्वभावका अनंत सामर्थ्य प्रतिभासित होता है जो चैतन्यवीर्यको सहज उछालता है।इसप्रकारसे ही ज्ञान और पुरुषार्थका संतुलन संरक्षित रहता है।

सम्यक् ज्ञानमें द्रव्य, गुण, पर्याय आदि अनेक भेद जाननेमें आने पर भी (वहाँ) ज़ोर तो अभेदस्वभावका ही वर्तता है। भेद जाननेमें आते हुए भी भेदके ऊपर वज़न नहीं जाता, यह एक सहज ज्ञानकी कला है और वही संतुलित अवस्था है।

जिस जीवको बाह्य क्षयोपशमज्ञानकी रुचि होती है वह भेदकी प्रधानताको छोड़ नहीं सकता है। यद्यपि उसे क्षयोपशममें अभेदस्वरूप समझनेमें तो आता है तथापि उसपर वज़न नहीं जाता और अनादि भेदबुद्धिको लेकर भेदकी प्रधानता बनी रह जाती है। अतएव भेद – अभेदात्मक वस्तुस्वरूपको (भलीभाँति) समझ करके संतुलित अवस्थामे आत्मकल्याण साधना चाहिए। ज्ञानीपुरुष आत्माके गुण(भेद)वैभव द्वारा आत्मस्वरूपकी महिमा करते हैं तब भी परिणामस्वरूप वे अभेदस्वरूपमें अभेदभावका ही आविर्भाव करते हैं। मुमुक्षुजीवको भी अभेदस्वरूपकी यथार्थरूपसे प्रधानता होनेपर ही अभेददृष्टि उद्‌भव होती है।

तथा जीवके परिणमनमें मुख्य प्रवृत्ति श्रद्धा – ज्ञानकी होती है और उसीको अनुसरण करके आचरण और पुरुषार्थकी प्रवृत्ति होती है।यह परिणामका विज्ञान है। आत्म कल्याणके प्रकरणमें सम्यक् श्रद्धाका विषय, सामान्य ध्रुवस्वभाव – परमात्मतत्त्व ही है। सम्यक्श्रद्धा, गुणभेद या पर्यायभेद को (यहाँ तक कि पूर्ण शुद्धपर्यायको भी) विषय नहीं करती, अर्थात् श्रद्धान नहीं करती है। जब कि ज्ञान, श्रद्धाके विषयभूत परमतत्त्वको विषय करनेके उपरांत सर्व पर्यायों और पर्यायके निमित्तभूत अन्य द्रव्योंको भी विषय करता है। इस भाँति श्रद्धा और ज्ञानकी दोनों पर्यायोंके विषयोमें अंतर होनेपर भी, ज्ञानमें मुख्यता तो श्रद्धाके विषयकी ही वर्तती है ऐसा श्रद्धा – ज्ञानके बीच परिणमनका नियम है। इसलिये

सम्यग्ज्ञानमें चाहे जो विषय ज्ञेय हो तो भी ज्ञानका "उक्त" संतुलन सतत संरक्षित रहता है। प्रथम स्वानुभवके कालमें अपूर्व आनंदकी उत्पत्ति होने पर भी, और अध्यात्मपर्यायोंकी महिमा यथास्थान पर भासित होने पर भी, उनकी मुख्यता नहीं होती; मुख्यता तो एकमात्र श्रद्धाको अनुसरण करके परमस्वभावकी ही रहती है।

यद्यपि मुमुक्षुजीवको सत्श्रुत द्वारा श्रद्धा और ज्ञानका विषय समझने को मिलता है, परंतु यदि श्रद्धा – ज्ञानके परिणमनमें संतुलन-संधान न रहे यानी कि दोनोंमेंसे किसी एकके ऊपर अयथार्थ प्रकारसे वज़न जाये तो कार्यसिद्धि नहीं होती है। श्रद्धाके विषयमें और ज्ञानके विषयमें किस स्तरपर कितना वज़न जाना चाहिए उसकी अनभिज्ञताके कारण, परमार्थकी हानि होती है अथवा मिथ्याएकांत उत्पन्न होता है। वैसा न होने हेतु, मुमुक्षुजीवकी कार्यपद्धति किस तरहकी होनी चाहिए, वह गवेषणीय है –

मुमुक्षुकी भूमिकामें श्रद्धा सम्यक् नहीं हुई, यानी कि अनादिसे औंधी पड़ी हुई दृष्टि, अपनी अनंत शक्तिसे, अपने ही अनंत महिमामंडित परमात्मपदसे विमुख प्रवर्तन कर रही है; अतएव वहाँ उस दृष्टि(श्रद्धा)का परिणमन साधनके रूपमें उपयोगी हो सके वैसा नहीं है तथापि यदि ओघसंज्ञासे समझे हुये निजात्मस्वरूपकी कृत्रिम महिमा लाकरके 'दृष्टिका ज़ोर' देनेमें आये तो वह प्रकार समीचीन नहीं है। परंतु यदि ज्ञानमें एकमात्र निजश्रेयका यथार्थ लक्ष्य बाँधनेमें आये, निजहितका विवेक जागृत हो, तब यथार्थ प्रकारसे दर्शनमोहकी मंदता शुरू हो, और यदि वह यथोचित मंदताको प्राप्त हो तो ही वहाँ अनात्मरुचि अर्थात् पर और रागकी रुचि मिट करके आत्मरुचि उद्‌भव हो, और जैसे जैसे वह आत्मरुचि प्रबल हो वैसे वैसे ज्ञान प्रयोजनभूत विषयमें सूक्ष्म और सक्षम होता है तथा (साथ ही) आत्महितका विवेक भी बलवान होता है। तब ज्ञानरूप साधन द्वारा (यानी कि ज्ञानलक्षणसे और वेदनसे) परमलक्ष्यस्वरूप निजसिद्धपदकी अपूर्व महिमा प्रगट होकर उसका साक्षात्कार हो तब ही वहाँ दृष्टि सीधी (सुलटी) होकर उसके ज़ोरसे आगे बढा जाए, ऐसा है। अन्यथा मुमुक्षुकी भूमिकामें वर्त रही औंधी दृष्टिको साधनके रूपमें मानकर 'दृष्टिका ज़ोर' देनेमें आ रहा है वैसा भ्रम उत्पन्न होता है जो विपर्यास है। अतएव मुमुक्षुकी भूमिकामें साधनके रूपमें दृष्टि नहीं बल्कि ज्ञान ही साधन होता है। यह वस्तुस्थिति है। उसे जैसे है वैसे अवधारण करनेमें न आये और उक्त श्रद्धा – ज्ञान विषयक

संतुलनको गवाँ देने में आये तो अनेक प्रकारसे विपर्यासकी उत्पत्ति संभवित है।

तथा, उपादान – निमित्तके विषयमें भी आत्महित साधने हेतु यथास्थानपर संतुलन – संधान रहना आवश्यक है। 'उपादान' निजशक्ति है जब कि 'निमित्त' संयोगरूप अन्यद्रव्यकी अवस्था है। अनादिसे जीवका परिणमन निमित्ताधीन हो रहा होनेसे उसके परिहारार्थ, सत्शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे निजशक्तिको सँभाल करनेका प्रतिपादन करनेमें आया है। इसी हेतुको केन्द्रमें रख करके ही साधककी भूमिकानुसार निमित्तभूत ऐसे वीतरागी देव, शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषोंको निमित्तरूपसे स्वीकार करनेमें आया है, और उनका बहुमान, महिमा और भक्ति आदिका निरूपण, (स्वस्थानके परिणामकी आवश्यकताका), प्रसिद्धरूपसे करनेमें आया है।

जब तक जीवको उपादानकी पहचान नहीं होती तब तक उसे उपादान की मुख्यता यथार्थरूपसे नहीं होती। वैसेमें यद्यपि उसकी बुद्धि निमित्ताधीन वर्त रही होती है तिस पर भी वह ओघसंज्ञापूर्वक सच्चे निमित्तोंका निषेध 'उपादानकी मुख्यता करनेके बहाने' करता है, और मात्र कृत्रिमतासे उपादानके प्रति ज़ोर देने जाता है तब वहाँ संतुलन संरक्षित नहीं रहता है। पूज्य श्रीमद् राजचंद्रजीका यह प्रसिद्ध वचन है कि :

> **"उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त;**
> **पामे नहिं सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित।"**

इस प्रकरणमें देशनालब्धिका अटल सिद्धांत यह है कि : परिभ्रमण करते हुए अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको सजीवनमूर्तिके प्रत्यक्ष योगके बिना देशनालाब्धिकी प्राप्ति नहीं होती। और इसलिये उसे सद्धर्मकी प्राप्ति भी नहीं होती। यह वस्तुस्थिति है।

मुमुक्षुकी भूमिकामें तथा साधककी भूमिकामें अनेक प्रकारसे निमित्त-नैमित्तिक संबंधोका भजना होता है, इसीलिए सत्संगको उपादेयता व कुसंगकी हेयताका प्रतिपादन करनेमें आया है। सत्संग और कुसंगके बीच यदि विवेक न रहे तो उपादानकी मुख्यता अयथार्थ रूपसे होकर, जीव अपना भारी नुकसान कर बैठता है।

यद्यपि कार्यसिद्धि तो स्वयंके पुरुषार्थसे ही होती है। ऐसा उपादान विषयक सम्यक् सिद्धांत है। तदनुसार परिणमन वर्त रहा होने पर भी उपादानकी मुख्यतामें प्रवर्तन करके धर्मात्मा, उपकारी ऐसे श्री देव – शास्त्र – गुरुका विस्मरण नहीं करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु परोक्ष

ऐसे जिनेन्द्र परमात्मासे भी विशेष माहिमा – भक्ति, वे अपने प्रत्यक्ष उपकारी श्रीगुरुके प्रति करते हुए देखनेमें आते हैं। और वैसे आचरणमें आत्म-संतुलन यथार्थरूपसे संरक्षित रहता होनेसे वहाँ किंचित्‌मात्र निमित्ताधीन दृष्टि नहीं होती है।

पात्र मुमुक्षुजीव भी अपने उपकारी श्रीगुरुकी चरणोपासना परम भक्ति और परमप्रेमसे करते हुए भी, अंतरमें भलीभाँति समझता है कि 'वे मात्र मार्गदर्शक हैं, परंतु कार्य तो मुझे ही करनेका है।' सारांश यह है कि : उपादान – निमित्तके विषयमें यथायोग्य संतुलन – संधान होकर आत्महित साधनेमें आये, वैसा प्रवर्तन करना हितकारी है।

तथा, आगम – अध्यात्मके विषय भी आत्म-संतुलनके दृष्टिकोणसे विचारणीय हैं। श्री जिनागम चार अनुयोगोंमें विभाजित है। और मुख्यतः हर एक अनुयोगमें, उस अनुयोग के मुताबिक सिद्धांत प्रतिपादित हैं। जैसे कि आचरण विषयक सिद्धांत चरणानुयोगमें, तथा कर्म-अवस्था संबंधी सिद्धांत करणानुयोगमें प्रतिपादित हैं। उसी भाँति त्रैसठशलाका महापुरुषों के जीवन-वृत्तांत प्रथमानुयोगमें, और वस्तु-व्यवस्थाका विधान द्रव्यानुयोगमें प्रतिपादित करनेमें आया है। तथापि 'चारों ही अनुयोगोंका तात्पर्य तो वीतरागता ही है।' अर्थात् चारों ही अनुयोगका केन्द्र और आशय 'आत्मस्वरूपके आधारसे अध्यात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनी'; वह है।—यह पारमार्थिक रहस्य, चारों ही अनुयोगमें अखंडित सूत्ररूपसे गूँथा हुआ है। जिसकी संप्राप्ति हेतु अध्यात्मशास्त्रोंमें, आगम विषयक सिद्धांतसे भी परे जा करके, आध्यात्मिक सिद्धांतोंका प्रतिपादन करनेमें आया है। तिसपर भी वहाँ आत्म-संतुलन समीचीनरूपसे संरक्षित रहा होने से कहीं भी पूर्वापर (यानी कि आगम – अध्यात्ममें) विरोधिता नहीं होती बल्कि यथार्थरूपसे अविरोधिता ही साधनेमें आती है। यद्यपि अध्यात्मकी मुख्यतामें, कदाचित् आगमसिद्धांत विरुद्ध-सा वचनव्यवहार भी दिखलाई पडे, तदपि वहाँ आगमसिद्धांतविरुद्धता करनेका आशय/अभिप्राय है ही नहीं; प्रत्युत वैसे वचनव्यवहारमें भी आत्महित साधनेका ही मुख्य आशय गर्भित होता है।—ऐसा पारमार्थिक आशय, श्रीगुरुके हर वचनमें सन्निहित रहता है; परंतु वह किसी बिरले महाभागीको ही समझमें आता है। और वह समझनेमें आने पर व यथोचित परिणमन करने पर ही उसे श्री गुरुकी कृपाप्रसादीरूप अध्यात्मतत्त्व संप्राप्त होता है; तब उनके प्रति, उन वचनों व उनमें निहित आशय के प्रति उसके हृदयमें अपूर्व

अहोभाव स्फुरित होता है।

उक्त विषयकी स्पष्टता हेतु यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेव अपने स्वरूपकी भावना भाते हुए, श्री 'नियमसार' परमागम-गाथा : ५०में फ़रमाते हैं कि : उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक —चारों ही पर्याय, परद्रव्य, परभाव और हेय हैं। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि : निजस्वरूपकी भावना हेतु, यों कहना/परिणमित होना वह यथोचित ही है। क्योंकि निजस्वरूप-आश्रयपूर्वक, वैसी भावना भानेपर, किंचित् भी आत्म-संतुलन गँवानेमें नहीं आता। कारण कि, 'चारों ही पर्यायें जीवद्रव्यका अंश हैं' ऐसा द्रव्यानुयोगका ज्ञान, वहाँ वर्तता है, उसका अभाव हो नहीं जाता। अतएव यथार्थ प्रकारसे वस्तुस्वरूपके अनुसार ज्ञान वर्त रहा होनेसे, ज्ञानका विपर्यास उत्पन्न नहीं होता। परंतु वहाँ वैसा ज्ञान और ज्ञानका विषय गौण, तथा निजस्वरूप मुख्य प्रवर्तता है। यह अध्यात्ममार्गकी विशिष्टता है!

उक्त संदर्भमें, ख्यालमें रखने जैसी बात यह है कि : यदि स्वद्रव्यका आश्रयरूप पुरुषार्थ न वर्त रहा हो, और उद्धृत गाथानुसार अध्यात्म-पर्यायोंका निषेध, कृत्रिमतासे करने जाये तो वहाँ ज्ञानकी शुष्कता, उन्मत्तप्रलापता तथा निश्चयाभास व स्वच्छंदत्व जैसे अनेक दुर्गण/विपर्यास उत्पन्न हो जाऐ, ऐसा है। अथवा वस्तुस्वरूपविरुद्ध यानी कल्पित ज्ञानकी उत्पत्ति होती है जो कि प्रगटरूप गृहीतमिथ्यात्व है।

यहाँपर आगम – अध्यात्मके सिद्धांतोंकी अविरोधिता (—संतुलन) संरक्षित रखने हेतु, अध्यात्मशास्त्रोमें प्रतिपादित, कुछ कथन विचारनेके लिये प्रस्तुत हैं। यथाः

द्रव्यानुयोगके आगम-सिद्धांतके मुताबिक "जो क्षेत्र द्रव्यका है वही क्षेत्र पर्यायका है।" वैसा होनेपर भी, अनादिसे जीवकी दृष्टि, मात्र पर्यायके ऊपर होने से, वह अनित्यपर्यायमें नित्यताका अनुभव करता है; जो कि भ्रांति है; उसे निरस्त करवानेके प्रयोजन हेतु और अपने नित्य स्वभावके ऊपर दृष्टिको स्थापित करवाने हेतु —"द्रव्यके क्षेत्रसे पर्यायका क्षेत्र भिन्न है" —ऐसा प्रतिपादन, अध्यात्मसिद्धांत-शास्त्रोंमें करनेमें आया है। यहाँ उक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिये, द्रव्यानुयोगके आगमज्ञानको गौण रखकर, स्वस्वरूप-आश्रयकी सिद्धि हेतु यह 'क्षेत्र भिन्नता'का सिद्धांत परम उपकारभूत है परंतु स्वरूपप्रत्ययी पुरुषार्थके अभावमें, यदि वैसा 'क्षेत्र भिन्नता'का प्रतिपादन करने जाये तो गृहीतमिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती

है; यह तथ्य भी गंभीर रूपसे लक्ष्यमें रखने योग्य है।

इसी भाँति, 'राग' संबंधित कथनमें भी यों है कि : द्रव्यानुयोगके सिद्धांत अनुसार "राग जीव करता है'; क्योंकि 'राग जीवकी ही अशुद्ध अवस्था है।"— ऐसा आगम-वचन है, जो मुमुक्षुजीवको अपने दोषोंका निष्पक्षतासे अवलोकन करने, स्वीकार करने हेतु उपकारभूत भी है। परंतु रागको अभाव करनेके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये, तथा अनादिसे प्रवर्त रही पर्यायदृष्टिको निरस्त करने हेतु, एवं आत्म-आश्रय होने के अर्थ, प्रयोजनवश—"राग जीवका नहीं है' किंतु 'राग पुद्‌गलका परिणाम है"—ऐसा श्री 'समयसार' अजीव अधिकारमें प्रतिपादन करनेमें आया है। उपर्युक्त दोनों कथनोमें परस्पर विरोध दिखलाई देने पर भी, हेतु सिद्धांत तात्पर्य सिद्धिके दृष्टिकोणसे दोनों कथनोंमें अविरोधिता समाहित है, आगम – अध्यात्म-सिद्धांतका संतुलन अबाधित है।

तथापि, यदि आगम – अध्यात्म विषयक संतुलन-संधान न हो तो "राग जीवका ही है" ऐसा वज़न बढ़ जानेपर, जीवकी पर्यायदृष्टि (— दर्शनमोह) तीव्र हो जाती है। इसी भाँति स्वरूपप्रत्ययी पुरुषार्थ बगैर, यदि "राग पुद्‌गलका ही परिणाम है" ऐसे स्थापित करनेमें आये तो, वहाँ निश्चयाभास होकर गृहीतमिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है। अतएव ऐसे दोनों प्रकार योग्य नहीं हैं, अहितकर हैं। ऐसे अहितसे बचने हेतु, मुमुक्षुजीवको रागको स्वीकार करने और अस्वीकार करने (निषेध करने) के विषयमें संतुलन-संधान करना अति आवश्यक है। यदि संतुलन-संधान न रह पाये तो वैसे अनधिकारी जीवके लिये तो शास्त्र है वह शस्त्र बन पड़े, ऐसा है।

इसी भाँति, द्रव्य – पर्यायके विषयमें भी ऐसा विचारणीय है कि : पदार्थ-विज्ञानके अनुसार जीवपदार्थ सामान्य – विशेषात्मक है। उसमें द्रव्यसामान्य है, वह अवलंबनका विषय है तथा पर्याय है। वह जाननेका/अनुभव करनेका विषय है। द्रव्यस्वभाव के अवलंबनपूर्वक शुद्धपरिणमन उत्पन्न होता है, अनुभव में आता है —ऐसा परिणमन, मोक्षमार्गी जीवोंको वर्तता है, वहाँ आत्म-संतुलन सहजरूपसे रहता है।

जब तक उपर्युक्त प्रकारसे द्रव्यस्वभावका अवलंबन हाथ नहीं आता है तब तक आत्म-संतुलन भी संरक्षित नहीं रहता। कारण कि : अनादिसे जीवको मात्र पर्यायका अवलंबन प्रवर्त रहा है; यह स्थिति पलटे नहीं तब तक, जीव अनेक ऊपाय करे तो भी, उसका वज़न उस उपायरूप

पर्यायके उपर रहता होनेसे उसका अवलंबन भी स्वयमेव लेनेमें आ जाता है; अतएव वहाँ आत्म-संतुलन-संधान नहीं रहता। और उसके फलस्वरूप विपर्यास उत्पन्न होकर पर्यायदृष्टि विशेष दृढ़ हो जाती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि : धर्मात्माको तो प्रथम स्वानुभूतिके कालमें (चतुर्थ गुणस्थानमें) अपूर्व आनंदका अनुभव पर्यायमें होता है और पश्चात् उसकी परिणति प्रवाहित रहती है; ऐसा होनेपर भी उन्हें उस पर्यायकी मुख्यता कभी भी नहीं होती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिजीव, मुनिदशा और मोक्षदशा आदि आध्यात्मिक पर्यायोंकी भावना व महिमा भी करते हैं, तिसपर भी, वे पर्याय मात्रको गौण —(जाननेके स्थानपर), तथा त्रिकाली निजस्वभावको मुख्य (—अवलंबनके स्थानपर) रखकर, यानी कि स्वस्वभावको निरंतर अवलंब करके, प्रवर्तन करते है; कहीं भी आत्म-संतुलन गँवाते नहीं हैं; अतएव् वे मोक्षमार्गमें सहज आगे बढ़ते रहते हैं। अहो ! ऐसा अद्‌भुत आत्म-संतुलनरूप प्रवर्तन/परिणमन धन्य है !

स्वभाव-सन्मुख-ज्ञान के बिना, मात्र धारणाज्ञानसे, यदि स्वभावके प्रति कृत्रिम ज़ोर देनेमें आवे तो भी, वहाँ वस्तुतः स्वभावकी मुख्यता होती न होने से, पर्यायकी मुख्यता नहीं छूटती है। और वैसे प्रकारमें आत्म-संतुलन वर्तता न होने से वहाँ निश्चयाभास आदि विपरीततायें उत्पन्न होती हैं। यहाँ महत्त्वकी बात यह है कि : निश्चयस्वरूपका अवलंबन लिये बगैर ही जीव, पर्यायमें खड़ा रहकर द्रव्य – पर्याय – दोनोंका अस्वींकार करता है, जिसका उसे ख़याल भी नहीं है ! यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि, जो जीव किसी भी बहाने से पर्यायके ऊपर वज़न दे, पर्यायकी मुख्यता करे, पर्यायका अवलंबन ले तो वहाँ आत्म-संतुलन रह ही नहीं सकता है। यह वस्तुस्थिति/मर्यादा है !

अब यहाँ, द्रव्यसे पर्यायकी अभिन्नता व भिन्नताके विषयको भी आत्म-संतुलनके दृष्टिकोणसे विचारना योग्य है।

आचार्यवर श्री उमास्वामी द्वारा प्रणीत यह सूत्र "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्"—वस्तुविज्ञानको प्रसिद्ध करता है कि : प्रत्येक विद्यमान पदार्थ, अपने मूलस्वरूपसे (ध्रौव्यरूपसे) त्रिकाल स्थित रह करके निरंतर (उत्पाद – व्ययरूपसे) परिणमता रहता है। हरएक पदार्थ शाश्वत है, नित्य है; तथा पदार्थकी उत्पाद – व्ययरूप पर्याय क्षणिक है, अनित्य है।

इसप्रकार एक ही पदार्थमें नित्यत्व और अनित्यत्व—दोनों धर्म होनेपर भी, वे सदा साथ ही रहते हैं, अविरुद्धरूपसे साथ ही रहते हैं ।—ऐसा विरुद्धधर्मत्व पदार्थका स्वरूप है।

यहाँ गवेषणीय यह है कि : उत्पाद – व्ययरूप पर्याय द्रव्यसे सर्वथा भिन्न है या अभिन्न है ? तो सिद्धांतके अनुसार तो पर्याय है वह द्रव्यसे कथंचित् भिन्न भी है और अभिन्न भी है।

अब, आत्मार्थीको पर्यायकी उक्त कथंचित् भिन्नता और अभिन्नताके दोनों न्याय किस भाँति उपकारी होते हैं वह आत्मलक्ष्यसे अवधारणीय है । यहाँ प्रथम पर्यायकी अभिन्नताके बारेमें यों विचारणीय है कि : पर्याय यानी अनित्य द्वारा, नित्य यानी द्रव्यका ज्ञान (—अनुसंधान) संप्राप्त होता है; जैसे कि उपयोग लक्षण द्वारा त्रिकाली ज्ञायकस्वभावका लक्ष्य होता है; इस न्यायसे, पर्यायकी कथंचित् अभिन्नता, द्रव्य पर्यंत पहुँचनेमें उपकारी है । और वैसा होनेपर आत्म – संतुलन संरक्षित रहता है। इसी तरह पर्यायकी कथंचित् भिन्नताके बारेमें यों विचारणीय है कि :-

शुद्ध पयार्य माने स्वभावके साथ अभेदभाव – सदृशभाव साधती पर्याय भी द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है। जैसे कि : ध्यान विनश्वर है तथा ध्येय अविनश्वर है (—श्री 'समयसार' गाथा – ३२० की आचार्यदेव जयसेन स्वामीकी टीका)। इसी तरह अध्यात्मके प्रकरणमें भी 'मुख्य है वह निश्चय' होनेसे तथा 'व्यवहार गौण' होनेसे पर्यायकी कथंचित् भिन्नताका ज्ञान भी उपकारभूत है।

उक्त परिप्रेक्ष्यमें उल्लेखनीय यह है कि : यदि पर्याय द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हो ही नहीं तो पर्यायकी स्वतंत्रता नहीं रहती। और यदि पर्यायकी स्वतंत्रताका ही स्वीकार न करने में आये तो नव तत्त्व ही स्थापित हो सके ऐसा नहीं है। इसी तरह अनादि संसाररूप अशुद्ध अवस्था/परिणमनका कारण भी द्रव्यस्वभावको ही स्वीकारना पड़े; और यदि एसा स्वीकारने/मानने में आये तो अशुद्ध अवस्थारूप परिणमन करना वही द्रव्यस्वभाव सिद्ध हो और अतएव वहाँ मोक्ष यानी शुद्धता प्रत्ययी पुरुषार्थका ही प्रसंग निरर्थक सिद्ध हो; परंतु वह असंभवित है; कारण कि : जीवस्वभावमें तो अशुद्धताका सर्वथा ही अभाव है; और अशुद्धताके अभावरूप यानी शुद्धतारूप परिणमन करना ही उसकी पर्यायका धर्म है, कर्तव्य है । एवं अन्य कोई भी द्रव्य – भावसे या

उसके निमित्तसे अन्य द्रव्यमें कुछ भी हो वह भी वस्तुमर्यादाके बाहर है। तथापि सर्व संसारीजीवोंको अनादिसे अशुद्धता और दुःखका अनुभव तो निरंतर वर्त ही रहा है कि जो सर्वसामान्यको अनुभवगोचर भी है,वह जीवस्वभावके अनुरूप नहीं है। और इसी तरह वैसा विकृत परिणमन जीवस्वभावके अधीन भी नहीं है। अतः पर्यायकी कथंचित् स्वतंत्रता/भिन्नता स्वयमेव सिद्ध होती है। तथा पर्यायकी कथंचित् भिन्नताका यथार्थरूपसे स्वीकार करनेपर पारमार्थिक प्रयोजन भी सिद्ध होता है; जो निम्न प्रकारसे है :-

१. पर्यायकी सर्वथा अभिन्नता स्वीकारनेसे, अज्ञान और विपरीत अभिप्रायके कारण होनेवाले, राग – द्वेष – मोहकी निवृत्ति नहीं होती। जैसे कि किसीका दोष पर्यायमें होते हुए भी, दोष करनेवाले जीवको पर्यायसे अभिन्न स्वीकार करके उस जीवके प्रति द्वेष होता है, वह पर्यायदृष्टि है, अज्ञान है। वैसे प्रसंगमें ज्ञानी धर्मात्माको तो मात्र उस दूषित पर्यायका ही निषेध आता है, परंतु किसी जीव (आत्मा) के प्रति द्वेष/निषेध नहीं आता। इसीलिये ज्ञानी किसी भी जीवको वैरभावसे नहीं देखते।

२. जो जीव पर्यायकी स्वतंत्रताके सिद्धांतको स्वीकार नहीं सकता है, वह जीव द्रव्यकी स्वतंत्रताको भी स्वीकार ही नहीं सकता। पर्यायकी स्वतंत्रता/भिन्नताको न स्वीकारनेका अभिप्राय, परमार्थकी सिद्धिका प्रतिबंधक भाव है। वैसा अभिप्राय संबंधी दोष, उक्त भिन्नताके सिद्धांतका स्वीकार होने पर निवृत्त होता है।

३. पर्यायकी स्वतंत्रता/ भिन्नताका ज्ञान सहजरूपसे, पर्यायकी गौणता करवाता है और जिससे पर्यायकी उपेक्षा होकरके, स्वभावकी मुख्यतामें आ पाता है। यह अध्यात्मका महत्त्वपूर्ण न्याय है।

तथा, उल्लेखनीय है कि : आध्यात्मिक प्रयोजनवश पर्यायकी स्वतंत्रता दर्शाने हेतु पर्यायके षट्कारकरूप धर्मोंका जो प्रतिपादन करनेमें आया है, उसमें श्रीगुरुकी महत् कृपा है। यह न्याय, पर्यायकी स्वतंत्रताको भलीभाँति दर्शाने हेतु महत्त्वपूर्ण है।

आत्म – संतुलनको संरक्षित रखनेवाले आत्मार्थी जीवको पर्याय द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न है और वह वस्तुकी अंगभूत है, ऐसी वस्तुस्वरूपव्यवस्था (Constitution)का ज्ञान वर्तता है, और पर्यायकी स्वतंत्रतापर भार देनेवाला, कहीं भी संतुलन गँवाये बगैर, स्वभावकी मुख्यता होनेपर, आत्मार्थके प्रयोजनकी सिद्धिको संप्राप्त होता है।

—उक्त सभी कथनोंका तात्पर्य यह है कि : वस्तुस्वभाव और उसकी प्राप्तिका मार्ग—ये दोनों विभिन्न नयों—निश्चय और व्यवहारनय—के विषय होनेपर भी, वे दोनों परस्पर पारमार्थिकरूपसे जुड़े हुए हैं और उसमें अत्यंत सूक्ष्मता रही हुई है। वह ज्ञानी पुरुषके ज्ञानमें विशदरूपसे प्रकाशित है और अनुभवगोचर है। परंतु ये दोनों विषय संकेतमात्ररूपसे वचनगोचर होते हैं और बहुभाग विषय तो वचनअगोचर है, जिससे आत्मार्थी जीवकी संतुलित अवस्था बने रहनेमें अनेक प्रकारसे कठिनाई होती है। यदि आत्मार्थी यथार्थरूपसे संतुलन संरक्षित रख सके तो वैसा पुरुषार्थ वास्तवमें मुमुक्षुकी समीचीन भूमिकाका है। उसी भाँति वह ज्ञानी पुरुषके हृदयमें रहा हुआ रहस्य भी है कि जो वचन द्वारा कथंचित् अभिव्यक्तिको प्राप्त होता है। अतः आत्मार्थी को उसके अर्थगांभीर्य पर्यंत पहुँचने हेतु प्रयास करने योग्य है। जो आत्मार्थी, ज्ञानीपुरुषकी अभिव्यक्तिके अर्थगांभीर्य तक पहुँचता है वह उन्मार्ग से बचकर सन्मार्गमें स्थिर होता है।

अंतमें, उक्त विवेचित विषयमें आधारभूत एक मुख्य बात यह अवगाहन करने योग्य है कि : मोक्षमार्ग के अभिलाषी जीवको, निर्विघ्नतासे मोक्षमार्ग पर्यंत पहुँचने हेतु, सर्वप्रथम व्यवस्थित कार्यपद्धति अपनानी चाहिए। अनादिकालसे अनंतबार धार्मिकक्षेत्रमें मुमुक्षुयोग्य प्रवृत्ति—स्वाध्याय, भक्ति, समर्पण आदि—करने पर भी, अव्यवस्थित कार्यपद्धतिको अंगीकार करनेके कारण, आज पर्यंत संसारचक्रका एक भी चक्कर दूर (कम) नहीं हुआ। अतएव जबतक श्री गुरुकी आज्ञाके अधीन वर्त करके, पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत न हो, तब तक कोई भी जीव अपनी मति कल्पनानुसार जब-तब (मुमुक्षु योग्य) वर्तन करे तो भी वह गोते खाता ही रहता है, और रहेगा। अतः आत्मार्थीजीवको सर्वप्रथम ज्ञानी अनुभवी सजीवनमूर्तिके मार्ग पर ही चलनेका दृढ़ निश्चयी होना परम आवश्यक है। नहीं तो यह दुर्लभ योग अयोगरूप हो जायेगा, और साथ ही साथ समय और शक्तिका अपव्यय होकरके नवीन गुत्थियाँ खड़ी होकरके, प्राप्तकी प्राप्तिमें स्वयंके ही खड़े किये गये अवरोध प्रतिबंधरूप सिद्ध होंगे। अतः मुमुक्षुजीवको सर्वत्र व्यवस्थित कार्यपद्धतिरूप आत्म-संतुलन-संधानके बारेमें सतत उद्यमशील और जाग्रत रहने योग्य है।...ॐ शांति.

❑

अष्टांग विभूषित अखण्ड सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन सदैव आठों ही अंगोंसे पूर्ण – अखण्डित होता है। अतएव किसी भी सम्यग्दृष्टि-धर्मात्माके इनमेंसे एक भी अंग न्यून हो या क्षतिवाला हो, वैसा खण्डित सम्यग्दर्शन नहीं होता। अतः सभी सम्यग्दृष्टि सर्वदा – सर्वत्र अखण्डित सम्यग्दर्शनके धारक होते हैं।

केवलज्ञानादि परिपूर्ण आत्मदशा प्रगट होनेका मूल सम्यग्दर्शन है। जो आत्मार्थी जीवको प्रगट करने योग्य है। एतदर्थ आत्मार्थी जीवको स्वस्वरूपदर्शनके प्रति गतिमान रहने हेतु या स्वस्वभावकी समीपता हेतु अपनी प्रवर्तमान भूमिकामें परिणामकी यथोचित निर्मलता होनी अत्यावश्यक है। तदर्थ, महान अष्टांगी ऐसा जो अखण्ड सम्यग्दर्शन, उसके प्रत्येक अंगभूत भावोंके स्वरूपको भलीभाँति जानकर – पहचानकर, तदनुसार स्वयंके परिणामोंको गढ़नेका प्रयास करना योग्य है।—इस दृष्टिकोणसे, श्री 'समयसार' परमागमके आधारसे यहाँ उक्त विषयका यथाशक्ति विवरण प्रस्तुत है :

सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंको गुणोंकी भी संज्ञा दी गई है। ये आठ अंग – गुण प्रसिद्ध हैं। यथा : **निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन (या उपबृंहण), स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना।**

उपर्युक्त आठ गुण – अंग निश्चयपरिणामरूप और व्यवहारपरिणामरूप— दोनों प्रकारसे, चतुर्थ गुणस्थानमें अविरत सम्यग्दृष्टिको स्वानुभूतिरूप शुद्धोपयोगके कालमें, यानी कि निर्विकल्पदशामें ही योग्यतारूपसे प्रगट हो जाते हैं।

१. निःशंकित अंग : सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सदा "एक ज्ञायकभावमय" परिणति द्वारा अनुभवता है। 'मैं मात्र ज्ञायक हूँ' ऐसा निर्विकल्प भान उसे सतत वर्तता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित, निज स्वरूप सहज प्रत्यक्ष होनेके कारण, और वह उसके श्रद्धा – ज्ञान में प्रत्यक्ष व मुख्य रहता होनेसे, उसे ऐसी शंका कि 'मैं' कर्मोंसे बंधा हुआ हूँ' कभी उत्पन्न ही नहीं होती। प्रत्युत वह तो धाराप्रवाहरूपसे अपने ज्ञानानंद-रसका निरंतर पान किया करता है। और अंतरमें अपने चैतन्यके अमृतरसको पीते – पीते मोक्षमार्गको अविरत

साधता रहता है। साथ ही उसको अपने शाश्वत अव्याबाधस्वरूपकी ऊर्ध्वता व प्रतीति वर्तती रहनेसे, उसे कोई भी प्रकारका भय (यथाः इहलोक व परलोकभय, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण और आकस्मिक—इन सात प्रकारके भयोंमेंसे कोई भी भय) उत्पन्न नहीं होता। भयरहित, अपना स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर वर्त रहा होनेसे वह समस्त प्रकारके भयके प्रति उदासीन है अतएव उसे इहलोक या परलोक संबंधित किसीभी प्रकारका भय उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि उसे वर्तमानमें पूर्वकर्मरूप संचित प्रारब्ध उदयमें आता है, तथापि उसका स्वामित्व निःशेष हो जानेके कारण, इष्टसंयोगकी हानि व अनिष्ट संयोगकी प्राप्ति विषयक भय उत्पन्न नहीं होता। उसको निजस्वरूपके अवलंबनसे ऐसी अलौकिक निःशंकता वर्तती है कि जिसको लेकर वह सहज ही सर्वत्र निर्भय रहता है।

यद्यपि सत्तागत द्रव्यकर्मोका उदय आने पर सम्यग्दृष्टिको परिणामोंमें कभी अस्थिरताजन्य अल्प भयरूप मचक (लचक) आ जाती है, जो अत्यंत गौण रहती है। क्योंकि ऐसेमें भी उन्हें ज्ञातृत्वपरिणतिकी अत्यंत मुख्यता प्रवर्तती होनेसे वे वैसे चारित्रमोहजन्य अस्थिर परिणामों के प्रति उदासीनरूपसे मात्र ज्ञाता रहते हैं, अकर्ता रहते हैं। तथा वैसी मचकसे सर्वथा भिन्न, उन्हें ज्ञानमयस्वरूपरूप निजानुभव अविच्छिन्नरूपसे रहता है। और यही ज्ञानीकी मुख्य–अंतर् परिणति–दशा है। ऐसा, अंतरंगमें सम्यग्दृष्टि–धर्मात्माका निश्चयपरिणमन वीतराग भावरूप होता है। तथा इस परिणमनका मुख्य आधार 'निज परमात्मद्रव्य' है।

उक्त सहजस्वरूपके स्वरूपाकार परिणमनके सद्भावमें सम्यग्दृष्टि – धर्मात्माके विकल्पात्मक परिणाम भी तदनुसार यथोचित ही होते हैं; अनर्गल नहीं होते। यानी कि उनके व्यवहाररूप बाह्य परिणामोंमें—वीतरागी देव, गुरु, सत्पुरुष और शास्त्रसिद्धांतोंके प्रति—परम निःशंकता वर्तती है। ऐसे आप्तपुरुषोंके वचनोंके प्रति उन्हें कहीं संदेह उत्पन्न नहीं होता। उसी भाँति वे किसी भी प्रसंगमें 'शंका और भयको लेकर' मार्गसे कभी भी विचलित नहीं होते; वरन् वे तो सदा अडिग ही रहते हैं। 'चिंता हो... भय हो'—वैसे उपस्थित कारणोंको देखकर भी, उन्हें स्वस्वरूपके आश्रयसे निश्चिंतता और निर्भयता ही वर्तती है।

ज्ञानी धर्मात्माके उपर्युक्त स्वरूपको पहचाननेवाला आत्मार्थी जीव भी अपनी प्रवर्तमान भूमिकामें आत्मभावनापूर्वक स्वस्वरूपरस घोटता है। वह

आत्मार्थके प्रति दृढ़ निश्चयपूर्वक प्रवृत्ति करता है। तथा निःशंकता और निर्भयता हेतु पुरुषार्थशील रहता है। एवं जब जब भय या शंकादिके परिणाम उत्पन्न होते हैं तब तब, वह उसी समय जागृतिके प्रयासपूर्वक अपने ज्ञानतत्त्वको अवलोकनमें लेकर, वैसे (भयादि) परिणामोंका निषेध करता है। समस्त प्रकारके उदयको मात्र कर्म-प्रसंग मानकर, उन सर्व प्रसंगोंसे, वह स्वयं भिन्नरूप – ज्ञातारूप रहनेका बारंबार प्रयास/प्रयोगात्मक अभ्यास करता है। परंतु लौकिक जनोंकी भाँति भयभीत होकरके वहम या शंकामें नहीं पड़ता। इसीलिये वह कभी भी मंत्र, तंत्र, ज्योतिष, कुदेव – कुदेवी आदिका आश्रय नहीं लेता। जो लोग कुदेव, ज्योतिष, मंत्र, तंत्र इत्यादिका आश्रय लेते हैं वे तो मुमुक्षुकी ही भूमिकासे दूर रहते होनेके कारण, सम्यग्दर्शनसे तो स्वतः अति दूर हो जाते हैं। अतः यह वास्तविकता, लक्ष्यमें लेने/ रहने योग्य है।

उल्लेखनीय है किः सम्यग्दृष्टि – धर्मात्माकी 'निःशंकता', आत्मार्थी जीवको 'भयसे होते दुःखकी निवृत्ति हेतु' परम प्रेरणास्पद है। अतः आत्मार्थी जीवका यह कर्तव्य है कि, वह इस 'निःशंकित अंग'को मात्र विचारकी मर्यादामें ही न रक्खें; अपितु निजअंतर-अवलोकनके प्रयोगसे 'भयसे उत्पन्न होनेवाले आर्त्तध्यानके कषाय-रसको तोड़नेका' पुरुषार्थ करें। यदि ऐसा न करनेमें आये तो, मात्र रागके आधारसे किया गया 'विचार' उदयकालमें कुछ भी सार्थक नहीं बनता। क्योंकि वैसेमें, 'विचारमें गृहीत बात' तो एक ओर पड़ी रह जाती है और उदयके प्रति 'तीव्ररस' ले लिया जाता है। यानी कि 'मात्र विचार'में 'कषाय-रस'को यथार्थ प्रकारसे तोड़नेकी शक्तिका ही अभाव होता है; अतः वैसा विचारबल टिक/स्थिर नहीं रह पाता; और कालांतरमें परिणामकी निर्बलता वृद्धिगत होकर वह शंकाशील हो जायेगा। अतएव आत्मार्थी जीवको निःशंकता हेतु अंतर-अवलोकनका प्रयोगात्मक पुरुषार्थ करना चाहिए। "निःशंकतासे निर्भयता उत्पन्न होती है" (—'श्रीमद् राजचंद्र'/ पत्रांक : २५४)।

२. **निःकांक्षित अंग :** मोक्षमार्गमें विचरण करते धर्मात्माको, समस्त प्रकारके कर्म और नोकर्म (– कर्मफल)के अभावरूप, अपना एक ज्ञायकभावमयस्वरूप – सुखस्वरूपका संवेदन निरंतर वर्तता है; जिससे उन्हें कर्मजनित शुभप्रकृतिके उदयरूप सुखकी आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती।

वस्तुत : सर्व प्रकारके कर्मफल जड़ – पौद्गलिक पर्यायें होनेसे वे, सम्यक् ज्ञानमें, प्रत्यक्ष तौरसे सुखसे रहित यानी कि सुखके अभावरूप

और सुखसे सर्वथा शून्य ही भासित होती हैं; अतएव सुखरहित वैसे उन पदार्थोंके प्रति, उन पदार्थोंसे सुख प्राप्तिकी भावना अर्थात् आकांक्षा कैसे उद्भव हो ?

तथा, जहाँ ज्ञानीको अस्थिरतावश परपदार्थोंकी ओर अपने उपयोग के आकर्षित होने पर, वैसे सभी बाह्य परिणाम, प्रत्यक्षतः दुःखरूप अनुभवमें आते हों, वहाँ उनमें कहीं सुखकी कल्पना होनेका अवकाश ही कैसे संभव है ?

भूतकालमें – अज्ञानदशामें जो सुख, सुख न था तथापि वह, भ्रांतिसे सुखरूप अनुभवमें आया था—वैसी भूल/भ्रांति, ज्ञानीके वर्तमान ज्ञानमें स्पष्ट भास्यमान होनेसे, वैसी भूल/भ्रांतिका पुनरावर्तन होना कैसे संभव है ?—ऐसा होना संभवित नहीं; क्योंकि उन्हें तो संसारके सर्व प्रकारके भोगोपभोगरूप पौद्गलिक वैभवके प्रति सुखाभासपूर्वक उपजनेवाली वांछाका ही अत्यंत अभाव वर्तता है।

यद्यपि धर्मात्माकी साधकदशा होनेसे कदाचित् अस्थिरताजन्य किंचित् वांछाके परिणाम हो आते हैं जो यथार्थतः रसविहीन होते हैं तो भी उनका वे दुःखरूप अनुभव करते हैं; अतएव उन्हें चारित्रमोहजन्य वांछाके परिणामका निषेध वर्तता है। ज्ञानीको 'रागका राग' कदापि नहीं होता। 'रागका राग' अनंतानुबंधीका प्रकार है जो अज्ञानीके ही होता है।

ज्ञानीपुरुषको आत्मगुण प्रगट हुये होनेसे और यदि बाह्य पुण्ययोग हो तो कोई मुमुक्षु उनकी प्रशंसा – बहुमानादि करता है, तब भी उनका परिणमन, वैसे प्रकारसे निर्लिप्त यानी कि वैसी वांछासे रहित होता है।

परिपूर्ण निज ज्ञायकस्वभावमयताको लेकर ज्ञानीको सम्यक् तृप्तिका सद्भाव वर्तता होनेसे तथा अतृप्तिरूप वांछा – आकांक्षाका असद्भाव होनेसे, उनकी पूर्वकर्मोदयप्रसंगजन्य उदयाधीन कार्योंमें सहज अप्रयत्नदशा प्रवर्तती है।—ऐसा निःकांक्षित अंगरूप धर्मात्माका अंतरंग – निश्चय परिणमन होता है। आत्मस्वभाव भी स्वयंकी परिपूर्णमयताको लेकर वह आकांक्षाके अभावस्वभावरूप है तथा तदाश्रित ज्ञानदशाका परिणमन भी आकांक्षारहित यानी स्वभावसदृश होता है।

अंतरंग निःस्पृहताको लेकर ज्ञानीके व्यवहार-परिणामों और प्रवृत्तियों में किसी भौतिक सुखकी स्पृहा नहीं होती। ज्ञानीपुरुषका बाह्यजीवन, पूर्वप्रारब्धयोग अनुसार अनेक प्रकारके चित्र – विचित्र उदयप्रसंगोंके बीच, सहज वैराग्यसहित ही होता है। जिन्हें रागमें ही रस न हो तो उन्हें

रागके विषयभूत भिन्न – परपदार्थोंमें रस रहने का सवाल ही कहाँ ? अतः ज्ञानीको सर्व औदयिक भावोंके प्रति सहजरूपसे ही नीरसता – उदासीनता वर्तती होनेसे उन्हें सर्व बाह्य प्रसंगोंमें सहज विरक्ति ही रहती है। अतएव ज्ञानी पूर्वोदय अनुसार सांसारिक कार्यों के बीच दिखाई देने पर भी वे उनके प्रति रसहीन परिणामसे प्रवर्तते हैं। श्रद्धेय पं. बनारसीदासजीने सत्य ही फ़रमाया है कि : "ग्यानकला जिनके घट जागी; ते जगमांहि सहज वैरागी।"

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि अज्ञानदशामें जीवका परिणाम सदैव भविष्यकी चिंता – भयसे ग्रसित रहा ही करता है। अज्ञानीका जीवन संयोग-आधारित होनेसे वह कभी चिंतामुक्त नहीं होता। यह अज्ञानदशाका एक ख़ास लक्षण है। जब कि ज्ञानीपुरुषका अपना पूर्णस्वरूप-आधारित जीवन होने से उन्हें भविष्यकी चिंता ही उत्पन्न नहीं होती जिससे वे सदा निश्चिंत ही रहते हैं। ऐसी अलौकिक चित्त-प्रसन्नताके प्रकारसे प्रगट वर्तती ज्ञानीकी वैसी निश्चिंतदशाके दर्शन और उसकी प्रतीति, उनके निकट परिचयमें आनेवाले उस मुमुक्षुको होती है जो स्वाश्रय हेतु प्रयोगवंत हो; यानी कि जो अपनी प्रवर्तमानदशाका मिलान, ज्ञानीकी उक्त वर्तती दशासे करता हो।

यद्यपि ज्ञानीको भी पूर्व अशुभकर्मोदय से रोगादि या अन्य प्रकारकी प्रतिकूलताओंके प्रसंग आते हैं किंतु वे स्वस्वरूपके प्रति सतत जाग्रत रहते होनेसे, और वैसी परिस्थितिमें उनका पुरुषार्थ सहज वर्धमान होनेके कारण, कर्मकी विशेषरूपसे निर्जरा करते हैं। वे अज्ञानी लोगोंकी भाँति अनुकूल परिस्थितिकी वांछासे कभी भी मंत्र, तंत्र, ज्योतिषविद्या, ऋद्धि – सिद्धि या कुदेवादिका आश्रय नहीं लेते। उनका बाह्यजीवन—स्वयंसे भिन्न—मात्र उदयाधीन वेदित होनेसे, उसमें उन्हें कहीं विषमता नहीं होती।

ऐसे निःकांक्षित अंगधारी ज्ञानीपुरुषके अंतर् स्वरूपकी पहचान करनेवाला मुमुक्षुजीव भी उनके मार्ग पर चलनेका दृढ निरधार करके तदनुसार वारंवार प्रयत्न करता है और अपनी भूमिकाके प्रमाणमें वैराग्य व उपशम के परिणामको गढ़ता है; आरंभ – परिग्रहमें जिस तरह निजत्व(स्वत्व) मिटे वैसा यत्न करता है; लौकिक व्यवहार और व्यवसाय आदि प्रवृत्तियोंका जैसे बने वैसे संक्षेप करके लोकसहवास घटाता है तथा लोकसंज्ञा मिटानेका प्रयत्न करता है। साथ ही वह व्यवहार धर्मक्रिया—दया, दान, जप, तप, शास्त्रज्ञान, पूजा, भक्ति, यात्रा आदि—में

प्रवर्तता होने पर, तद्संबंधी प्रतिष्ठा, प्रशंसा, मानादिकी वांछा किसी भी तरहसे उत्पन्न न हो तदर्थ पूरी सावधानी रखता है एवं मानादिके सर्व प्रसंगोंसे ही दूर रहने का प्रयास करता है। सन्मार्ग प्राप्तिके उक्त ऐसे मुख्य अवरोधक भाव उत्पन्न न हों वैसी जागृतिमें मुमुक्षु वर्तता है।

आत्मार्थी जीवके भी स्वरूपप्राप्तिकी अपूर्व भावना जाग्रत होनेसे उसे उदयकार्योंमें कहीं भी रस नहीं पड़ता है बल्कि जो कार्य सिर पर आ पड़े वह उल्टा बोझरूप लगता है जिससे इच्छाओंका रस और चिकनापन घटता है और परिणमनमें मल व विक्षेप मिटते जाते हैं। इंद्रियविषयके भोग भोगने के कालमें भी वह अपने परिणामोंका अवलोकन करता है और 'सुखाभास यह दुःख है' इसका अनुभवपूर्वक तात्त्विक निर्णय करता है। वांछारूप विकल्पकी आकुलताके अनुभवकी जाँच करके वह अनुभवपद्धति द्वारा दुःखको समझता है जिससे उसे वर्तमान मुमुक्षुभूमिकामें ही भावी सम्यक्त्वकी निःकांक्षित अंगरूप दशा प्राप्तिकी कारणरूप उदासीनता पल्लवित होती जाती है।

चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंग और दुःखके निमित्त सामने आ जायें तो भी मुमुक्षुजीव कभी भी दर्शनमोह वृद्धिगत हो ऐसे मंत्र, तंत्र, चमत्कार या कुदेवादिकी वांछा करके, सन्मार्ग प्राप्तिके उपायसे विचलित नहीं होता।—ऐसा विचारबल मुमुक्षुके सहज ही होने योग्य है।

'आत्मस्वरूप परिपूर्ण है' ऐसे लक्ष्य और ज़ोरको लेकर, मुमुक्षुजीव यथार्थ समझकी भूमिकामें, परसे उदासीनतारूप वैराग्यवश, इच्छाके परिणामको गौण करता है। इस भाँति मुमुक्षुजीवको भी यथाशक्ति धर्मात्माके निःकांक्षित अंगका अनुसरण होता है; जिससे वैसे समीपभावमें, उसको यथासमय वैसा (तद्रूप) परिणमन उत्पन्न हो जाता है।

३. **निर्विचिकित्सा अंग :** धर्मात्माको, समस्वभावी ज्ञायकस्वभावमयताके कारण, परिणाममें विषमताका अभाव वर्तता है। ऐसे ज्ञानी, जिन्होंने ज्ञातापनेके पुरुषार्थ द्वारा वस्तुदृष्टिको संवर्द्धित कर, इष्ट–अनिष्टत्वकी कल्पनाको निर्मूल कर डाला है; जिससे उन्हें कोई भी अन्य पदार्थ इष्ट–अनिष्ट नहीं भासता/लगता है।—ऐसे सहज–अंतरंग–निश्चय परिणमनके फलस्वरूप उनके ग्लानिका अभाव वर्तता है। सम्यग्ज्ञानकी निर्मलतामें सर्व पदार्थ 'मात्र ज्ञेयरूप'से भासित होते हैं अतएव उन्हें किसी भी पदार्थके प्रति जुगुप्सावृत्ति नहीं होती।

यथा : **"रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो"** ॥—अपूर्व अवसर. १२॥—ऐसे श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक, चारित्रमोहके उदयभावमें यानी कि जिस परिणमनका निजरूपसे अनुभव न हो वैसे उदयभावमें, ज्ञानीको क्वचित् वैसा भाव हो जाये तो, वे उसके भी भिन्नरूपसे ज्ञाता रहते हैं; कर्ता नहीं होते।

लौकिक जीवको विष्ठा आदि जुगुप्साप्रेरक पदार्थोंके प्रति स्वाभाविक जुगुप्सा (घृणा) हो जाती है। परंतु ज्ञानीकी वस्तुदृष्टिमें वस्तुधर्मकी प्रधानता वर्तती होनेसे—पुद्गलको सामान्यरूपसे जाननेपर—उन्हें, उसकी वर्तमान पर्याय गौण हो जानेसे, ग्लानि नहीं होती।

ज्ञानी तो स्वयं मुनिदशाकी भावना भाते हैं और वैसी अपूर्व दशामें अस्नानतादि व्यवहारकी व्यवहारसे उपादेयता जानते हैं; अतएव उन्हें मुनिराजके दर्शनके समय उनके अस्वच्छ शरीरके प्रति जुगुप्सा नहीं होती; बल्कि 'पवित्र वीतरागदशावंत मुनिराजका देह भी पवित्रतासे विभूषित है'—ऐसे भावमें, उनके पुनीत चरणकमलकी समीपता और भक्तिसे ज्ञानीका हृदय आर्द्र (पुलकित) हो जाता है। तथा उनके दर्शन, सेवा, चरणप्रक्षालन व आहारदान आदि कर वे स्वयं धन्यता अनुभव करते हैं।—ऐसेमें ग्लानि होनेका अवकाश ही कैसे हो ?

सम्यग्दृष्टि धर्मात्माके उपर्युक्त प्रकारसे निश्चय और व्यवहाररूप निर्विचिकित्साअंग प्रवर्तता है, जो उनकी शोभा है।

तदनुसार आत्मार्थी जीव भी अपने परिणमनमेंसे विषमताको टालनेका सतत प्रयास करता है। तदर्थ वह भेदज्ञान के प्रयोग और पुरुषार्थ द्वारा निज ज्ञानस्वभावी आत्माकी जागृति का बारंबार उद्यम करता है एवं अन्य समस्त पदार्थोंको 'मात्र ज्ञेयरूप' अवलोकन करके, उन पदार्थोंमें प्रवर्तमान, अपनी इष्ट–अनिष्ट बुद्धिको निरस्त करने हेतु प्रयत्नवंत रहता है।

'जगतकी समस्त वस्तुयें अपने अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप स्वचतुष्टयसे सर्वथा और सर्वदा भिन्न हैं'—इस प्रकार स्वयंमें उन परपदार्थोंकी अव्यापकताका अवलोकन वह सतत अपने ज्ञानमें करता रहता है। तथा 'वे पदार्थ ज्ञानमें (पररूपसे) ज्ञात होने पर भी उनका वेदन–अनुभवन नहीं होता'—ऐसा उसे वास्तविकरूपसे लगने पर, वह स्वस्वभावके लक्ष्यसे और आत्महितके लक्ष्यसे यानी कि यथार्थ

लक्ष्यपूर्वक—किसी भी पदार्थके प्रति ग्लानि न हो वैसा—निर्विचिकित्सापनेका अनुसरण करता है और मोक्षमार्गके प्रति आगे बढ़ता है। इस प्रकारके बारंबारके प्रयत्नसे विभावरस क्षीण होता जाता है व स्वस्वभावकी समीपता होती जाती है।

—इस भाँति आत्मार्थीकी भूमिकामें कारणरूप परिणमन उत्पन्न होता है जिसकी परिपक्वतामें मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है ।

४. **अमूढदृष्टि अंग :** ज्ञानमें मूढता यानी अयथार्थता न हो उसे अमूढदृष्टि अंग कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवको अपने निर्मल – शुद्ध ज्ञायक स्वभावमें निरंतर अभेदभाव वर्तता है जिसके कारण उन्हें स्व – पर पदार्थ विषयक अयथार्थता नहीं होती। सम्यग्ज्ञानमें वे उन सभी पदार्थोंको यथास्थित जानते हैं। और वैसेमें स्वपदार्थ निजरूपसे जाननेमें/ अनुभवमें आता है अतएव समस्त अन्य द्रव्य – भावमें कहीं भी निजत्व नहीं होता।

अनादिसे उदयगत पदार्थों (—कुटुम्ब, शरीरादि सर्व संयोगों)में भ्रांतयुक्तताके कारण निजत्व होता था, उसका सम्यक्त्व होने पर अभाव हो जानेसे और मात्र ज्ञाताभावरूप परिणमन वर्तता होनेसे ज्ञानीके राग – द्वेष – मोह विलय हो जानेके कारण उनकी किसी भी पदार्थके प्रति अयथार्थ दृष्टि नहीं होती।

चारित्रमोहके कारण ज्ञानीके क्वचित् – अल्प रागादि परिणाम होते हैं तथापि वे उसके भी ज्ञाता रहते हैं। इस भाँति निर्मल दृष्टि के कारण उन्हें कोई पदार्थ इष्ट – अनिष्ट भासित नहीं होता।

मोक्षमार्गी धर्मात्माको अपने कार्यक्षेत्रकी मर्यादा—पर्यायकी व्यापकता तक ही—अनुभवमें आती है; जिससे परपदार्थके कार्यकी कर्तृत्वरूप मूढता नहीं होती। तदुपरांत स्वभावके द्वारा विभावको करना/भोगना अशक्य जाननेमें आता है, अतः रागादि विभावको करने/भोगनेरूप मूढता नहीं होती। सम्यग्दृष्टिके ऐसा निर्मल परिणमन निरंतर वर्तता है।

व्यवहारसे भी सम्यग्ज्ञानीके सम्यग्ज्ञानमें चारों पहलुओंसे यथार्थ जाननेरूप परिणमन वर्त रहा होनेसे उन्हें हेय – उपादेयरूप महा विवेक प्रवर्तता है। इसीलिये उनका कर्तव्य – अकर्तव्य विषयक निर्णय समीचीन होता है। न्याय – नीति आदि विषयोंमें भी उनका झुकाव सदैव निर्दोषताकी ओर ही रहता है। इस भाँति लौकिक प्रवृत्तिमें यथार्थता रहती है।

तथा शास्त्रके न्याय भी उनके ज्ञानमें अंगपूर्वधारीकी तरह यथार्थरूपसे आते हैं। ज्ञानी अन्यमतके शास्त्र पढ़ते है तो भी वे उन्हें ज्ञानरूप

ही परिणमित होते हैं, उसमें कहीं भी भ्राँति नहीं होती।

देव – शास्त्र – गुरु संबंधी अनेक बाह्य धार्मिक कार्यो के प्रसंगोमें उनका निर्णय यथार्थ ही होता है। उनके ज्ञानमें मोक्षका स्वरूप भलीभाँति भास्यमान हुआ होनेसे—अठारह दोष रहित, पूर्ण वीतरागस्वरूप देवका स्वरूप जाननेमें—उन्हें कहीं भी विपरीतता नहीं होती।

उसी प्रकार उन्हें संवर – निर्जराका स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होनेसे वे निर्ग्रंथ गुरु और सत्पुरुषको पहचानते हैं इसलिये उन्हें गुरु तथा ज्ञानीके विषयमें विपर्यास नहीं होता।

तथा, उनका ज्ञान सत्सिद्धांतप्ररूपक शास्त्रोंके अवगाहनमें सूक्ष्मरूपसे प्रवर्तता है। और अपसिद्धांतप्ररूपक शास्त्रोंके अवलोकन करने पर भी उन्हें विपर्यास नहीं होता। अर्थात् सम्यग्ज्ञानमें सुशास्त्र तथा कुशास्त्रका भेद यथार्थरूपसे जाननेमें आ जाता हैं।

अमूढदृष्टि अंग धारी, निर्मल दृष्टिके धनी धर्मात्माको निजपरमात्मस्वभावके प्रति अनन्य प्रेम, रुचि और उपादेयता वर्तती होनेसे "सब आगम – भेद सुउर बसै"—ऐसी दशा वर्तती है। स्वरूपके अभेदज्ञानकी लब्धिमें ज्ञानके व सिद्धांतके समस्त भेद गर्भितरूपसे समाविष्ट होते हैं।—इस प्रकार ज्ञानी निश्चय – व्यवहाररूप अमूढदृष्टि अंगसे सदैव शोभित होते हैं।

तदनुसार जिनके मति – श्रुतज्ञानमें पूर्ण शुद्धताका उपादेयमयरूप लक्ष्य/ध्येय होनेके कारण सुविचारणा प्रगट हुई है कि वह सुविचारणा विकसित होकर सम्यग्ज्ञानरूप परिणामको प्राप्त होने योग्य है—वैसे आत्मार्थी – सुपात्रजीवको भूमिकानुसार ज्ञानकी निर्मलता होती है। और इसी कारण उसकी विचारधारामें यथार्थता उत्पन्न होती है जिससे वह अवश्य आत्महितको साधेगा।

आत्मार्थी जीव देव, शास्त्र, गुरु और सत्पुरुष विषयक किसी भी प्रकारके प्रसंगमें विवेकपूर्वक वर्तता है। यह क्षेत्र वर्तमान कालमें प्रत्यक्ष वीतराग सर्वज्ञदेवके अभावरूप है तथा भावलिंगी निर्ग्रंथ गुरुकी विद्यमानता भी अभाववत् है। ऐसी परिस्थितिमें मोक्षदाता सजीवनमूर्ति सत्पुरुषके प्रति उसे परम विनय, विवेक, प्रेमभक्ति होना वह इस भूमिकाकी यथार्थताका द्योतक है। ज्ञानीपुरुषसे श्रवण किये गये आत्महितकारी बोधके प्रति आत्मार्थीको परम प्रेम स्फुरायमान होता है यानी कि उस बोधकी उपासना हेतु वह अत्यंत भक्तिसे प्रयत्नवंत रहता है।—ऐसी अत्यंत भक्ति ही आत्मार्थीको सम्यक्त्वकी पूर्व भूमिका रूप निर्मलता प्राप्त

कराती है। इसी कारण वह आत्मार्थी—मुमुक्षुभूमिकामें अयथार्थताके कारण—ऐसे अनेक प्रकारके संभवित दोषोंसे बच जाता है। साथ ही मतिकी यथार्थताको लेकर उसका ज्ञान प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत विषयमें सूक्ष्म होकर कार्यसाधक होता है। अर्थात् वह अप्रयोजनभूत विषयके प्रति उदासीन होता है और अपने परम प्रयोजनके प्रति एक लक्ष्यसे, एक ध्येयसे, एक लय (धुन)से और उत्कटतापूर्वक उत्तरोत्तर उन्नत भावकी परिणामश्रेणि द्वारा आत्मश्रेयकी दिशामें विकास करता है।

आत्मकल्याणके मार्गमें आगे बढ़नेका अभिलाषी जीव, प्रायः मार्गके क्रमको नहीं समझता। यह समझका विपर्यास है अतः इसे दूर करना चाहिए।

ज्ञानी पुरुषके आत्मश्रेयपद्धतिसूचक वचनोंमें विधिकी सूक्ष्मता—अंतर्मुख होनेकी सूक्ष्मता—सन्निहित रहती है; जिसका ग्रहण यथार्थतापूर्वक ही होने योग्य है।

आत्मार्थी जीवको गुणकी रुचिके कारण असत्संग व कुसंगसे दूर रहनेकी सावधानी वर्तनी चाहिए। ऐसा प्रकार पूर्व पर्यायरूप सम्यकत्वका अंगभूत अमूढदृष्टिपना होने योग्य है।

समस्त प्रकारके विपर्यासरूप अंतराय निरस्त होनेके पश्चात् ही आत्मस्वरूपका यथार्थ निर्णय/ भावभासन होता है। उसके पूर्व स्वच्छंदप्रवृत्ति (—सद्गुरुकी आज्ञा विना धर्मप्रवृत्ति), लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा इत्यादिक महादोष तथा कषायरस व दर्शनमोहजन्य अत्यंत मूढता होनी—बग़ैरह प्रकारकी भावमलिनता विगलित हो सो मतिकी निर्मलता होनेका कारण है।

जीव अनंतकालसे संसार परिभ्रमण कर रहा है। जीवने परिभ्रमण करते करते, साधारण धर्मजिज्ञासासे अनंतबार जप, तप, यम, नियम, संयम, त्याग, वैराग्य, शास्त्रज्ञान इत्यादिक साधन किये तिस पर भी परिभ्रमणका अभाव नहीं हुआ। इसके कारणका विचार किया जाये तो संक्षेपमें यों बताया जा सकता है कि—यथार्थ विवेकका अभाव होनेसे तथा विपर्यासयुक्तताके कारण उक्त सर्व साधन निष्फल हुये हैं। अतएव यथार्थता कैसी हो यानी कि मार्गप्राप्तिमें साधक ऐसा अमूढपना कैसा हो ? यह सत्संग योग में विनय, भक्ति, सरलतादि साधन सम्पन्न होकर विचार करने योग्य है, ग्रहण करने योग्य है और आराधन करने योग्य है।

इस भाँति मुमुक्षुकी भूमिकामें, सम्यग्दर्शनके अंगभूत अमूढदृष्टिपनेकी उक्त पूर्व भूमिका मुमुक्षु द्वारा उपासनीय है।

५. **उपगूहन (उपबृंहण) अंग :** उपगूहन माने सम्यक् प्रकारसे दोषको गौण करना। त्रिकाल निर्दोष, परिपूर्ण शुद्ध निज परमतत्त्वकी मुख्यतामें वर्तमान दोष-भाव गौण होकर ज्ञानमें ज्ञात होते हैं सो निश्चयसे उपगूहन है। उपबृंहण माने अनंत सामर्थ्यवंत निज स्वभावके अवलंबनसे, पर्यायमें आत्मशुद्धिकी वृद्धि होनी। इस प्रकार धर्मात्मा, हर समय आत्मशुद्धिकी वृद्धि करते रहते हैं। उनके परिणमनमें निरंतर ऐसा दोनों प्रकारसे पुरुषार्थ वर्तता है।

दोष जीवका भावरूप है। दोषको जानना, उसके होनेके मूल कारणको जानना और उसे मिटानेका उपाय करना इत्यादि चारों पहलुओंसे गुरुप्रदत्त सूझसे जानकर, स्वरूपसम्मुख होनेसे स्वरूपकी मुख्यतामें दोष गौण होकर उनका क्रमशः अभाव होता है। यदि स्वरूपकी मुख्यता बिना अपने दोषको गौण करनेमें आये तो स्वच्छंदरूपी महा दोष उपजता है। और वैसेमें दोषको पोषण मिलता होनेसे अनेक प्रकारके अन्य दोष वृद्धिगत होने लगते हैं। इसीलिये सम्यक् प्रकारसे दोषको गौण करनेका शास्त्रमें विधान है।

सम्यग्ज्ञानमें दोष ज्ञात होनेपर, दोषके प्रति निषेध वर्तता है; अतएव दोषकी वृद्धि न होती होनेसे उसका क्रमशः अभाव होता है। प्रवर्तमान दोषको हेयबुद्धिसे जाननेपर वह ज्ञाताके दोष-भावके रसको तोड्ता है जिससे उसका (दोषका) बल क्षीण होता है। साथ ही साथ निर्दोष स्वभाव के प्रति रस वृद्धिगत होनेसे, निर्दोषता प्रगट होने का सहज अवकाश बनता है।

—इस प्रकार अस्ति–नास्तिसे उपगूहन अंग का निश्चयपरिणमन सम्यकृत्वके साथ अविनाभावीरूपसे रहता है। वहाँ पुरुषार्थकी कमीके कारण जो अल्प—रसहीन होकर—दोष उत्पन्न होता है उसके वे ज्ञाता रहते हैं। ऐसा दोष स्वरूप–अस्थिरतावश उत्पन्न होता है तो भी उनके अभिप्रायमें निर्बलता नहीं है। अभिप्रायमें तो ज्ञानीको, पूरे उद्यमसे, आत्मजागृतिपूर्वक शुद्धताके प्रति निरंतर पुरुषार्थका परिणमन वर्तता है। जिसका मुख्य कारण उन्हें निज अनंत सामर्थ्यका प्रत्यक्ष दर्शन वर्तता है, सो है।

व्यवहारसे सम्यग्दृष्टि जीव अन्य जीवोंके दोष-भावको गौण करते

हैं। यों होनेमें भी उनका दृष्टिकोण अन्य जीवके त्रिकाली द्रव्यस्वभावको मुख्य करना सो है। सम्यग्दृष्टिका दूसरा नाम द्रव्यदृष्टि है। अतएव सर्वत्र द्रव्यकी ही मुख्यता प्रवर्तती है । तथा स्व–पर पदार्थमें पर्याय गौण हो जाती है।

ज्ञानीपुरुष अन्य धर्मात्माके चारित्रमोहजनित दोषको जाननेपर उसे प्रसिद्ध नहीं करते, बल्कि छिपाते हैं। ऐसा करना, दोषका रक्षण या अनुमोदन है, यों समझना उचित नहीं; क्योंकि धर्मात्माके वैसे दोष प्रगट करनेपर धर्मकी अपकीर्ति होती है या लोकमें धर्मकी निंदा होकर धर्मका अवमूल्यन होता है अथवा सामान्य जनसमुदायमें धर्म और धर्मीके प्रति अश्रद्धा होनेका प्रसंग बनता है। अतः जहाँ सम्यकृत्व जैसा महान् गुण प्रगट हुआ हो वहाँ रसकसशून्य चारित्रमोहके अल्प दोषको गौण करना न्याययुक्त ही है। वास्तविकता तो यह है कि जहाँ मुमुक्षुमात्रके लिये धर्म और धर्मात्मा केवल भक्तिका स्थान है वहाँ अभक्तिका प्रकार, उक्त किसी कारणसे, उत्पन्न हो जाये तो वह बड़ा भारी पारमार्थिक अहितका कारण बन जाता है। अतएव धर्मात्माके दोषकी अप्रसिद्धिमें भी, मुमुक्षुजीवोंके प्रति धर्मोकी निष्कारण करुणा तथा उनकी धर्मनिष्ठा सन्निहित होती है। अतएव धर्मात्माके दोष छिपाने, बचाव करनेका धर्मीका तनिक-सा भी हेतु (अभिप्राय) नहीं होता; बल्कि वह उनका पारमार्थिक विवेक है; यों समझना चाहिए ।

तथा, दोषका छिपाव दो प्रकारसे होता है—एक तो जिसके प्रति ममत्व के कारण पक्षपातबुद्धि होनेसे उसके दोष गौण होकर दिखाई ही नहीं देते; ऐसा प्रकार स्वयं तथा दोष करनेवाले—दोनोंको अहितका कारण है। ऐसे अभिप्रायपूर्वकके परिणमनमें दोषदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि पुष्ट होती है, बलवान होती है; तथा उसके कारण वह जीव गुण दृष्टि/स्वभावदृष्टि से विशेष दूर हो जाता है। ऐसा विपर्यास, स्वभावके पुरुषार्थको न उत्पन्न होने देनेके अनेक कारणोंमेंसे एक मुख्य कारण है। अतएव ऐसे प्रकारमें सावधान होकर उसे छोडना योग्य है। तथा दूसरा, उपर्युक्त प्रकारसे स्व–पर गुणवृद्धि हेतु गुणदृष्टिवंत मोक्षमार्गी धर्मात्माको होता है। वहाँ तो गुणकी/स्वभावकी मुख्यतामें स्व–परके दोष गौण होते हैं; जो योग्य ही है।

तथा, समकिती जीव व्यवहारसे मोक्षमार्गकी बाह्य प्रवृत्तिमें युक्त होता है वह उपबृंहण अंगका व्यवहार है। विकल्पका ऐसा प्रकार

मोक्षमार्गमें सहज ही होता है इसलिये वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु और सत्पुरुष संबंधी अनेकविध प्रवृत्तियाँ, वह स्वभावकी मुख्यता छोड़े बगैर, स्वभावका आराधन करते–करते, सहजरूपसे किया करता है।

ऐसे ही प्रकारको यथार्थरूपसे अनुसरण करनेवाला मुमुक्षुजीव भी स्वभावके निर्णयपूर्वक, स्वभावके अवलंबन हेतु स्वभावकी मुख्यता करता है और पर्यायमात्रको गौण करनेरूप प्रयत्नमें वर्तता है। उसके पूर्व प्रथम भूमिकामें अपने दोष मिटानेके दृष्टिकोणसे उनका अवलोकन, निंदा, गर्हा, खेद इत्यादि प्रकारके परिणाम सहज होते हैं जिससे दर्शनमोहकृत भावमलिनता गलती है और उस भूमिकाकी ज्ञानमें निर्मलता प्रगट होनेपर स्वभावके भावभासन होनेकी योग्यता प्राप्त होती है।

ऐसे मुमुक्षुजीवके ज्ञानमें जब अन्य जीवके दोष ज्ञात हों तब वह उन्हे गौण करनेका प्रयत्न करता है। यदि वह अन्यके दोषको मुख्य करे तो उस जीवके प्रति उसे द्वेषभाव उत्पन्न होकर पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाती है और आत्मा गौण हो जाती है; जिसके कारण 'सर्व आत्मा स्वरूपसे भगवानआत्मा है', यह दृष्टिकोण छूट जाता है। इस तरहकी यथार्थ समझपूर्वक आत्मार्थी जीव स्व–परके दोषोंका पक्षपात नहीं करता; प्रत्युत स्व–परका हित साधनेमें आये ऐसी विचक्षणतासे वर्तन करता है।

निश्चयधर्म प्राप्तिकी भावनावाले आत्मार्थी जीवकी व्यवहारमोक्षमार्गकी प्रवृत्ति भी ज्ञानीकी आज्ञाधीन स्वशक्तिप्रमाण होती है। तथा वह वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु और सत्पुरुषके प्रति स्वयं भक्ति करता है और उसे वर्द्धमान करता है। उसी भाँति वह अन्य जीवोंके वैसे होनेमें अनुमोदना हेतु तन–मन–धनसे समर्पण करता है। व्यवहारमोक्षमार्गमें जो जो व्यवहारप्रवृत्ति है उसमें पारमार्थिक हेतुको लक्ष्यमें रखकर, वह उस प्रवृत्तिमें वृद्धि करता है, करवाता है और अनुमोदता है; जिससे उसे निश्चयधर्मकी मुख्यता नहीं छूटती और व्यवहारप्रवृत्ति भी यथासंभव यथास्थानपर सहज होती है। यदि ऐसी यथार्थता न हो तो अनिवार्यतः उस भूमिकाके व्यवहारमें अयथार्थता अथवा विरुद्धता हो जाती है। और फलस्वरूप वह जीव निश्चयधर्मकी प्राप्तिसे अति दूर हो जाता है। इस प्रकरणमें सिद्धांत यों है कि, यथास्थानमें या गुणस्थानमें यदि जीव व्यवहारधर्मसे भी भ्रष्ट हो तो उस जीवके लिये निश्चयधर्म प्राप्त होनेका विचार भी करने जैसा नहीं है। अतः मुमुक्षुजीवको मुमुक्षुयोग्य अपने

व्यवहारधर्मके परिणामको समझकर, जाँच कर और मिलान करना योग्य है।

६. **स्थितिकरण अंग :** निज परमात्मस्वरूपका श्रद्धान —सम्यग्दर्शन; निज परमात्मपदके आलंबनसे स्वसंवेदनरूप ज्ञान—आत्मज्ञान; तथा स्वरूपमें स्थिरता – एकाग्रतारूपपरिणमन—स्वरूपाचरण—सम्यक् चारित्र;—इन तीनोंकी एकता व अविरुद्धतास्वरूप जो निश्चयमोक्षमार्ग; उसमें अपनी आत्माको सुदृढ़तासे स्थापित करना 'स्थितिकरण' है। धर्मात्माको उक्त सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्रमें स्थिर रहनेका पुरुषार्थ निरंतर वर्तता है। जिससे वे मोक्षमार्गसे च्युत नहीं होते। उनका ऐसा पुरुषार्थयुक्त निश्चयपरिणमन सहज होनेसे मार्गभ्रष्ट होकर उन्मार्गपर जाना बन सकता ही नहीं है।

व्यवहारसे समकिती जीव स्वयंके परिणमनमें मोक्षमार्गोचित सहज परिणामसे परिणमता है। तथापि व्यवहारधर्मकी मर्यादा छोड़कर परिणमन नहीं करता। उनका ऐसा मर्यादित परिणमन, शुद्धतावश—सहजरूपसे अशुद्धिका नाश हो जानेसे—वर्तता है। यद्यपि व्यवहारपरिणाम वास्तवमें अशुद्धिका अंश है, जिससे उसमें नीरसता/सूखापन हो जाता है। तथापि उन्हें अशुद्धअंशमें भी वीतरागी देव – शास्त्र – गुरु और अन्य सत्पुरुष प्रतिके भावमें कहीं भी विरुद्धता नहीं होती।

धर्मात्मा, अन्य आत्माको भी निश्चयमोक्षमार्ग या व्यवहारमोक्षमार्गसे च्युत होता जाने तो उसका स्थितिकरण करते हैं। अर्थात् उसे उन्मार्ग पर जानेसे बचाते हैं। उनका किसी भी जीवके प्रति मात्सर्यभाव नहीं होता। अतएव जानबूझकरके उसे उन्मार्ग पर जानेसे न रोके यानी कि उन्मार्ग प्रतिके अन्यके परिणामका निषेध न करें ऐसा प्रकार उनके नहीं होता, नहीं बनता।

आत्मार्थीजीवको भी स्व – परको आत्मा को सत्यमार्गमें स्थापित करने की भावना होती है जो विकसित होकर, सम्यक्दशा प्राप्त होने पर स्थितिकरण अंगरूपसे, सम्यकृत्व की अंगभूत होकर परिणमित हो जाती है। वह जीव स्वयं पात्रता प्रगट करके, गुरुप्रदत्त सूझसे सद्बोध ग्रहण करके स्वरूपमें स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है; साथ ही साथ अन्य साधर्मी/मार्गेच्छावान जीवोंको भी तथाविध प्रयोजन साधनेमें यथाशक्ति अपना समर्पण करता है। आत्मार्थी जीव कभी भी किसी भी अन्य जीव जो कि धर्मप्राप्ति, धर्मायतनकी प्राप्ति या धर्मसाधनकी प्राप्तिके समीप आये तो उसमें अंतराय पड़े वैसे परिणाम नहीं करता, या नहीं करवाता

या अनुमोदन करेनेमें खड़ा नहीं रहता। इस प्रकारसे सम्यक्त्व पहलेकी भूमिकामें स्थितिकरणके अनुरूप/सुसंगत परिणमन होता है जो वृद्धिगत होकर सम्यक्त्वके कालमें स्थितिकरण अंगको प्राप्त होता है। अतएव यों फलित होता है कि उक्त प्रकारसे विसंगत प्रकारके विपर्यासरूप परिणामवाले जीवको सम्यक्त्वकी समीपता नहीं होती बल्कि विपर्यासके कारण वह सम्यक्त्वसे दूर हो जाता है।

उपर्युक्त स्थितिकरण अंगके विषयमें यथार्थ समझ करके मुमुक्षुजीवको निज प्रयोजनमें अत्यंत सावधानीसे प्रवर्तन करना योग्य है।

७. **वात्सल्य अंग :** वात्सल्य शब्दका अर्थ स्नेह या प्रेम होता है। आत्मा स्वयं प्रेममूर्ति यानी वात्सल्यताकी मूर्ति है; जिससे आत्मरुचिरूप सम्यग्दर्शन स्वयं वात्सल्य स्वरूप है; इसलिये सम्यग्दर्शन के अन्य अनेक अंगोंमें वात्सल्य एक मुख्य अंग है। स्वभावकी रुचि यानीकि अनंत गुणनिधानकी रुचि यह निश्चयवात्सल्य है। इस कारणसे मोक्षमार्गके अवयवभूत सम्यग्दर्शन – ज्ञान-चारित्र – पुरुषार्थ आदि सर्व गुण प्रगट होते हैं। आत्माके सर्व गुणोंके शुद्ध परिणाम, व्याप्य – व्यापकभावसे, एक गुणवंत आत्माकी ही सेवना करते हैं। इस प्रकारसे सर्व गुणोंके परिणाम द्वारा सेवनीय – आराध्य ऐसा जो निज परमपद; उसकी सेवा करनेवाले सर्व भावोंमें वात्सल्यका रूप दर्शनीय है।

ऐसे निश्चयवात्सल्यपूर्वक अन्य साधर्मीके प्रति, तथा जिसे आत्मगुण प्रगट हुये हैं ऐसे साधक धर्मात्माके प्रति, गुणप्रमोदवश, प्रीति होनी सो व्यवहारवात्सल्य है। जिन्हें गुणकी/धर्मकी रुचि, प्रीति होती है उन्हें नियमसे धर्ममें प्रवर्तन करनेवाले सर्व धर्मात्माओंके प्रति सहज भावसे प्रीति होती ही है; अन्य गुणवानके प्रति कभी भी मात्सर्यभाव होता ही नहीं। मात्सर्यभाव उत्पन्न न होनेका सबसे बलवान कारण 'वात्सल्यभाव' है। जिस प्रकार माताका पुत्रके प्रति नैसर्गिक वात्सल्य होता है उसी तरह धर्मीका अन्य धर्मीके प्रति तथा अन्य धर्मेच्छावानके प्रति सहज ही वात्सल्य होता है। इस प्रकारके परिणाम वास्तवमें स्व आत्महितके प्रति विशेष अनुरागके द्योतक हैं।

कभी किसी धर्मात्मा पर या धर्मायतनस्वरूप देव – शास्त्र – गुरुपर कोई उपसर्ग आये तो धर्मीजीव, वात्सल्यभावनावश, उसका अपनी पूरी शक्तिसे प्रतिकार करता ही है। वह उसका यथोचित प्रतिकार, अपनी प्रवर्तमान भूमिकानुसार किये बगैर शांतिसे नहीं बैठता। जैसे क्या गाय, अपने

बच्चे पर कोई सिंह झपटे तब उसके रक्षण हेतु बगैर प्रयत्न किये रह सकती है ? वैसे समयमें गाय अवश्य समझती है कि वह सिंह पर विजय पाने में शक्तिमान नहीं है तथापि वात्सल्यभाववश अपने बलिदान हेतु तत्पर हो जाती है। इस प्रकारके परिणाम तिर्यंचकोटिके जीवोंको भी प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं। तब फिर धर्मके प्रति धर्मात्माको उससे अनंत गुने और अलौकिक प्रकारके विवेकयुक्त परिणाम होवे ही; वह तथ्य सहज समझमें आये ऐसा है। यथार्थ मुमुक्षुजीवको तथा धर्मीजीवको अपने कुटुम्बिक जनोंके प्रति, अपनी भूमिकानुसार जो अनुराग होता है उसकी तुलनामें, निःसंदेहरूपसे साधर्मी और धर्मात्माओं के प्रति विशेष अनुराग होता ही है।

तदनुसार जिन्हें यथार्थरूपसे आत्मार्थिता प्रगट हुई है, जिन्हें गुणरुचि व प्रीति वर्तती है उन्हें तो स्वकुटुम्बिकजनोंसे भी अधिक प्रीति, धर्म और धर्मात्माओंके प्रति होती ही है। यद्यपि आत्मार्थीकी भूमिकामें भी उदयगत कौटम्बिक कार्य जंजालवत् लगते हैं जिससे उन कार्योंमें प्रवर्तन करनेपर अत्यन्त अरुचि हो आती है। और वैसे उदयप्रसंगमें वह लाभका या सुखका कारण जानकर प्रवृत्ति नहीं करता। मात्र प्रारब्धवशात् करनी पड़ती प्रवृत्तिमें उसे उत्साह नहीं आता। बल्कि उसे तो सत्संग, धर्मकार्य और धर्मात्मा के प्रति अत्यंत प्रीति, भक्ति और अनन्य प्रेम वर्तता है।

कालकी अति विषमता के कारण, सांप्रत जैनसमाजमें धर्मप्राप्तिकी वृत्ति क्षीण होती जा रही है जिससे धर्मस्थान व धार्मिक संस्थाओमें भी क्लेश व वैर–विरोधका वातावरण व्याप्त है, ऐसा देखनेमें आता है। जिसका मुख्य कारण परस्परमें वात्सल्यताका अभाव है। जहाँ वात्सल्यताका अभाव हो वहाँ ईर्ष्याका जन्म हुये बगैर रहे ही नहीं। अतः वात्सल्य गुणके प्रति विशेष प्रकारसे ध्यान देना योग्य है जिससे कि जैनसमाजकी ताकत को टूटनेसे बचाया जा सके। समाजके हर स्तर पर जैनियोंको यह बात विशेषरूपसे विचारने जैसी है। यदि वात्सल्यके विषयको निश्चय और व्यवहारमें यथार्थरूपसे समझा जाये, प्रचारित किया जाये तो जैनधर्मकी अवनति होती अटके और उन्नति हो, तथा अनेक अनिष्टोंसे व विपत्तियोंसे रक्षा हो सके।

८. **प्रभावना अंग :** सम्यग्दृष्टिको अपने ज्ञायकस्वभावमयताके कारण, स्वरूपकी भावनामें, शुद्धपरिणमन वृद्धिगत होता है। इस प्रकारकी

उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती स्वरूपाकार परिणामश्रेणिको विशेष भावना अथवा प्रभावना कहने में आती है। धर्मात्मा, सम्यग्ज्ञानरूपी रथमें आरूढ होकरके/ आत्माको स्थापित करके मोक्षमार्गमें विचरण करते हैं; और धर्मदशाके विकास हेतु सहज पुरुषार्थशील रहते हैं; यही सच्ची धर्म-प्रभावना है। स्वयं की दशामें धर्मप्रभावनाके सद्भाव बगैर अन्य कोई बाह्य क्रियासे यानी कि जप, तप, यात्रा, पूजा, भक्ति, गजरथ, शास्त्रस्वाध्याय या दानादिसे, जिनेश्वरके मार्गकी वास्तविक प्रभावना हो नहीं सकती; कारण कि बाह्य प्रभावनाका व्यवहार निश्चयप्रभावनापूर्वक ही हो सकता है। सिद्धांतमें भी निश्चयपूर्वक ही उत्पन्न हुये व्यवहारको व्यवहाररूपसे सम्मत करनेमें आया है अतएव धर्मात्मा ही वास्तवमें प्रभावना हेतु अधिकारी हैं, अथवा उनकी आज्ञाका आश्रयवंत/आज्ञाधीन वर्तता मुमुक्षु ही प्रभावनाके लिये अधिकारी होता है। प. कृपालुदेव श्रीमद्राजचंद्रजी फ़रमाते हैं कि, "मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति दो की होती है। एक आत्मज्ञानीकी और एक आत्मज्ञानीके आश्रयवानकी"—(पत्रांक : ५५१)। मुमुक्षुको प्रत्यक्ष ज्ञानी विद्यमान हों तब उनकी आज्ञामें रहकर धर्म-प्रवृत्ति करनी उचित है अन्यथा धर्म-प्रवृत्ति करने पर उसमें अनेक तरहसे दोष होने की संभावना है।

जिन्होंने अपनी पर्यायमें धर्म प्रगट करके धर्मप्रभावना की है ऐसे समकितीजीव अन्तर–बाह्य प्रभावना करनेवाले हैं। उन्हें अंतर्में सम्यग्ज्ञान विकसित होता जाता है और साथ ही साथ वे व्यवहारप्रभावनाके अनेक कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार वे जैनधर्मका/जिनेश्वरके मार्गका अंतर–बाह्य उद्योत करते हैं। जैनधर्मका प्रत्येक व्यवहार परमार्थ हेतुभूत होता है। ज्ञानीपुरुष ही व्यवहारके सर्व कार्योंमें परमार्थ प्राप्तिका आशय जिस भाँति पोषित हो उसे जानते हैं। परंतु वैसे आशयको अज्ञानी–शास्त्र–पाठी जीव वास्तवमें नहीं जानते; क्योंकि वे अंतरंग रहस्यसे अनभिज्ञ होते हैं; अतएव, उनके द्वारा वास्तविक धर्मकी प्रभावना नहीं होती, हो भी नहीं सकती। सिद्धांत भी यों है कि "मार्ग प्राप्त किया हुआ ही मार्ग प्राप्त करा सकता है।" यही वस्तुस्थिति है। जिसने अंतर्मुख होनेका मार्ग/विधिको जाना ही नहीं, वैसा अनजान जीव, उसके बारेमें अन्यको किस भाँति बतला सके ? इसीलिये देशनालब्धिका सिद्धांत है कि, ज्ञानी सिवा अन्यसे देशनालब्धिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः जिनोक्त तत्त्वकी प्रभावना–प्रचार आदि आत्मज्ञानशून्य जीव, ज्ञानीके आश्रय

बगैर, वास्तवमें नहीं कर सकता। अथवा ऐसी नासमझदशामें उन कार्योंके करने पर अनजानेमें वह आत्माका अहित हो वैसे प्रकारकी प्रवृत्ति करनेमें जुट जाता है और आत्महित करना चूक जाता है। प्रभावनाके बाह्यकार्योमें शुभयोग व उपयोगकी प्रधानता होती है अतएव जो शुद्धोपयोगरूप निश्चय जैनधर्मसे अनभिज्ञ हैं वे बाह्य शुभप्रवृत्तिको ही कर्तव्य जानकर वैसे बाह्य कार्योमें रत रहते हैं।

इसीलिये भगवंत्कुंदकुंदाचार्यने 'समयसार' गाथा – १५में शुद्ध उपयोगवंतको ही समस्त "जिनशासन" कहा है। प्रभावना के सभी कार्योमें अंतर्‌स्वरूपदृष्टिकी प्रधानता तथा महत्त्व सम्मत करने योग्य है। उदाहरणार्थः श्री जिनबिंबको रथमें बिराजमान करके नगरमें घुमाने में आता है उसमें ऐसा पारमार्थिक संकेत निहित है कि—धर्मात्मा, सम्यग्ज्ञानरूपी रथमें आत्माका स्थापन करके मोक्षमार्गमें भ्रमण करते हैं और धर्मप्रभावना करते हैं। श्री 'समयसार' गाथा – २३६ में कहा है कि : "चिन्मूर्ति मन-रथपंथमें, विद्यारथारूढ घूमता। जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्त्व दृष्टि जानना ॥"

निश्चय – व्यवहार प्रभावनाके उपर्युक्त स्वरूपको समझनेवाला आत्मार्थी भी निश्चयप्रभावना प्रगट करने के अंतर्‌पुरुषार्थमें जुटता है और जीवनमें इसीकी प्रधानता रखता है। यदि ऐसी मुख्यता न रखनेमें आये तो बाह्यप्रवृत्तिमें संतुलन नहीं रह सकता है। अतः मुमुक्षुजीव बाह्य धर्मप्रवृत्तिमें ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाधीन रहकर अनुसरण करता है। आत्मकल्याणकी मुख्यता व ज्ञानीकी आज्ञा, यों अंतर्‌-बाह्य प्रवृत्तिको ध्रुवतुला हो तो प्रभावनाके कार्योमें यथोचित विकास सुलभतासे होना संभवित है; अन्यथा प्रयोजनभूत बाबतमें किसी न किसी जगह भूल होनेकी संभावना है। ऐसा जानकर, आत्मार्थी जीवको प्रभावनाके कार्यमें सावधानीसे प्रवर्तन करना उचित है।

—एतदर्थ, महान अष्टांग विभूषित ऐसा जो सम्यग्दर्शन; उसके उक्त आठों अंगोंके स्वरूपको समीचीन रूपसे समझकर, पहचानकर, तदनुसार आचरण करना चाहिए।—इति।

◻

सरलता

मुमुक्षुभूमिकामें आत्महितके प्रयोजन हेतु 'सरलता' अत्यंत महत्त्वका गुण है। सरलता उत्पन्न होनेसे अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न ही नहीं होते हैं। सरलता, अन्य अनेक गुण उत्पन्न होनेका मुख्य कारण है। सरलता न होने से आत्महितकी दिशामें बड़ा भारी अवरोध रहता है; यानी कि असरलता आत्मगुण-रोधक है। वास्तवमें तो सरलता बगैरकी मुमुक्षुता, शून्यवत् ही होती है।

सरलता के कारण व्यवहार और परमार्थमें अनेक प्रकारसे लाभ होता है। तथा असरलताके कारण अनेक प्रकारसे व्यवहार और परमार्थमें नुकसान होता है। जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकारसे विचारणीय है :-

❏ सरलतासे मध्यस्थता और विशालता प्राप्त होती है। जिससे सरल परिणामी जीव, किसी भी प्रसंगमें अनुचितरूपसे पक्षपाती नहीं होता। तथा यथार्थ विचारशक्तिके कारण वह, मध्यस्थ भावसे रहकर, विपर्याससे बच जाता है। उसी प्रकार 'सत्'के स्वीकार करनेमें संकुचितता के कारण होनेवाले नुकसानसे भी वह बच जाता है। विशालबुद्धि और मध्यस्थता, ये सरलतासे उत्पन्न हुये गुण हैं।

❏ चार गतिमें सबसे अधिक जीवोंकी संख्या तिर्यंच गतिमें है। उसका कारण जीवके तिर्यक्—तिरछे, आड़े, वक्र, असरल—परिणामोंका वह प्रगट फल है। जब कि मनुष्य गतिमें जीवोंकी संख्या सबसे कम होती है। तीनों कालमें संख्याका ऐसा परिमाण यों सूचित करता है कि, परिभ्रमण करते जीवमें सरल परिणामसे मनुष्यत्व प्राप्त करे उनका प्रमाण अति अल्प है। मनुष्यत्वकी दुर्लभता देखकर 'सरलता' उपासनीय है।

❏ निर्दोष व पवित्र दशा प्राप्तिके अभिलाषी जीवको, सर्वप्रथम स्वच्छंदरूपी महादोषकी हानि हेतु, स्वयंके दोषोंका अवलोकन करना आवश्यक है। ऐसा निष्पक्ष अवलोकन, सरल परिणामी जीव ही कर सकता है। स्वदोषको मिटानेका यह एक रामबाण इलाज है। परंतु वह सरलता बगैर साध्य नहीं है।

❒ सुगमतासे स्वच्छंदरूपी अंधत्वसे दूर होना हो, उस जीवकी मति सरल होनेसे, वह ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेकी योग्यता प्राप्त करता है। यह ज्ञानदशा प्राप्तिका अद्भुत उपाय है। सरल परिणामी जीवको ज्ञानीपुरुष की आज्ञाके लिये तत्परता होती है। जिससे उसे ज्ञानीपुरुषके बोधको अवधारण करनेकी क्षमता प्राप्त होती है। अनेक शास्त्रोंके अध्ययन और बहुतसी बाह्यक्रियाओंसे जो लाभ नहीं होता वह लाभ, सरल परिणामी मुमुक्षुको ज्ञानीके मार्गपर चलने के दृढ़ निश्चयसे होता है।

❒ जीवनमें एकमात्र आत्महितका लक्ष निर्धार करना, परमार्थ प्रत्ययी सरलता है। ऐसी पारमार्थिक सरलताका महत् फल है। इँस प्रकारकी संरलता, अनेक प्रकारके उच्च कोटिके परिणामश्रेणिका कारण बनती है और अंततः मोक्षमार्गकी प्राप्तिपूर्वक पूर्ण पदकी प्राप्ति पर्यंत पहुँचाती है।

❒ आत्मार्थी जीवमें सरलता प्राप्त होने के कारण, श्रीगुरुके चाहे जैसे वचनोमें उसे विश्वास रहता है और कहीं तनिक-सी भी शंका नहीं पड़ती। अतएव यों फलित होता है कि: सत्पुरुषके वचनमें शंका हो वैसी अयोग्यता, असरलताकी द्योतक है।

❒परिणामकी सरलताके कारण एक विशिष्ट प्रकारकी योग्यता प्राप्त होती है जिससे कि, जीव सत्पुरुषके आशयको ग्रहण करनेके लिये पात्र बनता है। ऐसी योग्यता बगैर अनेक उत्कृष्ट निमित्तोंका योग मिलने पर भी 'आशय ग्रहण न होने से' जीव आत्महितसे वंचित रहा है। यह परिस्थिति दर्शाती है कि असरलतासे कितना बड़ा नुकसान है।

❒ जो जीव पक्षपातरहित होकर अपने दोषका अवलोकन करके, निषेध न करे तो उसे अपने दोषका जाने – अनजानेमें बचाव होता है; तथा ऐसे प्रकारमें उसे अपने दोषका गुप्त अनुमोदन वर्तता है जिससे दोषका अभाव हो नहीं सकता।

परंतु जो जीव सरलतापूर्वक मध्यस्थता से अपने दोषको देखता है उसे दोष के गुप्त अनुमोदनका अभाव होता है अतएव वह दोषभाव निराधार होकर, रस और शक्तिहीन होकर नष्ट हो जाता है। मुमुक्षुकी भूमिका के सर्व प्रकारके दोषका नाश करनेके लिये 'सरलता' सर्वोपरि शस्त्र है।

❑ सरलतासे विरुद्ध असरलताके परिणाम, जीवोंको अनेक प्रकारसे उत्पन्न होते हैं, उनका स्वरूप भी समझने योग्य है। वक्रता, वचन और हावभावपूर्वक होनेवाली कृत्रिमता, दंभ, कुटिलता, माया, छल, कपट, हठाग्रह और जिदके परिणाम असरलताके द्योतक हैं। अतएव आत्मार्थी जीवको इन्हें अहितकारी जानकर त्यागने योग्य है।

❑ असरलताका मूल पर्यायबुद्धि है। जिससे जीवके सर्व प्रकारके दोष अंकुरित हो जाते हैं। अतएव सर्वप्रकारके उद्यमसे पर्यायबुद्धि को निरस्त करना योग्य है। त्रिकाली भगवान आत्माकी अधिकता चूक करके, वह महिमावंत होनेपर भी उसकी महिमाका लक्ष्य छोड़ करके, शुभाशुभ उदयको या एक समयकी पर्यायको महत्त्व देकर उसका आश्रय करना,सो परमार्थ प्रत्ययी असरलता है।

❑ श्री जिनेन्द्रदेवके उपदेशानुसार श्रीगुरु द्वारा सत्-श्रवणकी प्राप्ति होती है। तथापि जीव जिनआज्ञापर पैर रखकर चलता है अर्थात् उपयोग नहीं रखता, आज्ञाकी अवगणना करता है, वैसेमें सरलता कहाँ रही ?

❑ सत्शास्त्रमें प्रयोजनवश निश्चय और व्यवहारमें कथन करनेकी पद्धति है। उदाहरणार्थ : 'रागका कर्ता जीव नहीं, बल्कि पुद्‌गल है' तथा 'राग का कर्ता जीव है'—ये दोनों आगम-वचन हैं, और दोनोंमें आशयकी अविरुद्धता है; जो सरल परिणामी जीवको सहजरूपसे साधनेमें आती है। वह यथार्थरूपसे दोनों वचनोंको मुख्य – गौणतापूर्वकग्रहण करता है। परंतु मतिकी वक्रताके कारण जीवको विरोध भासित होता है। जिँससे आत्महित साधनेमें आ नहीं सकता है। जब कि सरल परिणामी जीवको ऐसा निश्चय वर्तता है कि : ज्ञानीपुरुषके वचन हमेशा पूर्वापर अविरुद्ध ही होते हैं ।

❑ सत्संगकी उपासना तथा सत्शास्त्रोंका अध्ययन सरल परिणामोंसे करनेकी श्री जिनाज्ञा है। और तब ही सत्यका ग्रहण अथवा तत्त्वका ग्रहण सुलभतासे होता है तथा जीव गुणग्राही बनता है।

अनंतकालमें, अनंतबार सत्पुरुषका योग मिला होनेपर भी उनकी पहचान नहीं होनेके अनेक कारणोंमें मुख्य कारण, जीवकी असरलता है। ओघसंज्ञासे ज्ञानीपुरुषकी भक्ति और बहुमान करनेपर भी वंचनाबुद्धि रह जाती है उसमें सरलताकी ही न्यूनता है, यों समझने योग्य है।

❑ चारों अनुयोगोंमें/जिनवाणीमें अनुयोग अनुसार विषय व सिद्धांतोका

प्रतिपादन है; तथापि सर्वत्र अध्यात्मतत्त्व प्रतिपादन करनेका आशय रहा हुआ है। पारमार्थिक असरलताके कारण जीवको आगम और अध्यात्ममें विरोध भासता है जिससे तात्पर्यरूप वीतरागताकी प्राप्ति नहीं होती है। आत्महितके आशयको मुख्य रख करके, आगम-सिद्धांतोंका ज्ञान कर्तव्य है तथा अध्यात्म तत्त्वकी मुख्यता और आदर करने योग्य है। उदाहरणार्थः द्रव्यानुयोगके अनुसार एक पदार्थकी सत्तामें द्रव्यके प्रदेश और पर्यायके प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं बल्कि एक ही है; तिसपर भी अध्यात्मतत्त्व – परमपदका आश्रय करवाने हेतु अध्यात्मके प्रकरणमें श्रीगुरुका स्पष्ट उपदेश है कि : पर्यायके प्रदेश भिन्न हैं तथा द्रव्यके प्रदेश भिन्न हैं। वहाँ पूर्वापर विरोध नहीं है। तथापि मतिकी असरलताके कारण विरोध भासित होता है जिससे आत्महित चूक जाता है।

❐ यह उपयोगकी पारमार्थिक सरलता है कि अंतरंगमें तिर्यंक्/तिरछी गति नहीं करता यानी कि बगलमें रहे हुये रागको वह स्पर्श नहीं करते हुए, सरल होकर, स्वयंको ग्रहण करता है।—ऐसी सरलता उपादेय है। यदि असरलता रहेगी तो वह अंतर्मुख होनेमें प्रतिबंधक है अतएव परम सरलता आदरणीय है।

संक्षेपमें 'सरलता' स्व-पर कल्याणकारी है और 'असरलता' स्वयंके व अन्यके कल्याणमें बाधक है।—ऐसा 'सरलता'का महत्त्व समझकर आत्महित साधना योग्य है।

ॐ शांति

❐

श्री जिनेंद्रदर्शन !

श्री जिनप्रतिमायें तीनों लोकोंमें अकृत्रिमरूपसे अनादिसे बिराजमान हैं। इसके पीछे कुदरतका हेतु, संसारीजीव को निजात्मदर्शन करवाना है । ऐसी कुदरतकी अनूठी व्यवस्था है ! इसी हेतुसे मोक्षमार्गी धर्मात्मा, श्री जिनेन्द्रदेवकी प्रतिकृतिरूप प्रतिमा बनवाकर उनकी श्री जिनमंदिरमें विधिपूर्वक स्थापना करते हैं। धर्मात्माओंके द्वारा यह परंपरा भी अनादिसे मोक्षमार्गमें प्रचलित है ।

आत्मज्ञान हेतु वाणी द्वारा आत्मस्वरूप दर्शानेमें आता है। एतदर्थ आत्मज्ञानी पुरुषोंके द्वारा विरचित सर्व ग्रंथोंमें आत्मबोधका निरूपण करनेमें आया है, किया जाता है। परंतु 'आत्मा' एक अरूपी पदार्थ है और उसका स्वरूप वचनातीत ही नहीं अपितु विकल्पातीत भी होनेसे उसे मात्र संकेतरूपसे वाणी द्वारा दर्शाया जा सकता है । वास्तवमें तो आत्मस्वरूप सिर्फ श्रवण – चिंतनका विषय नहीं है अपितु वह तो मात्र वेदन—अनुभवज्ञान—का विषय है। अतएव ऐसे आत्मस्वरूपके दिग्दर्शन हेतु श्री जिनप्रतिमाकी स्थापना एक सर्वोत्तम प्रयोग है।

यह तथ्य तो सर्वमान्य है कि किसी भी विषयको कथनके द्वारा समझानेके बजाय यदि उसे प्रयोगके द्वारा समझानेमें आये तो वह भलीभाँति समझाया जा सकता है, समझा जा सकता है। और यह बात सर्व साधारणके व्यावहारिक जीवनमें अनुभवगोचर है। विशेषकर विज्ञानके विषयमें तो यह आम प्रचलित कार्यपद्धति है। कारण कि वैज्ञानिक विषयको केवल व्याख्या और पुस्तकोंके माध्यमसे समझाया जाना अशक्य है। उल्लेखनीय यह है कि भौतिकविज्ञान तो इंद्रियज्ञानगोचर स्थूल विषय होने पर भी उसे समझाने हेतु जब प्रयोगपद्धति अनिवार्य है तब आत्मज्ञान तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म और इंद्रियातीत 'आत्मस्वभाव'का विज्ञान है जिसे कि समझने/समझाने हेतु प्रयोगात्मकपद्धतिके सिवा अन्य साधन की कल्पना निरर्थक ही है। अतः ऐसे आत्मस्वरूपको दर्शाने हेतु पूर्ण आत्मस्वरूपपरिणत साक्षात् परमात्मा या उनकी प्रतिकृतिके दर्शन यानी कि श्री जिनेंद्रदर्शन ही एक मात्र कार्यकारी प्रयोगात्मक पद्धति

है। और इसी पद्धतिकी सिद्धिके द्वारा ही आत्मासिद्धि संप्राप्त होती है।

यद्यपि वर्तमानमें जैनसंप्रदायमें श्री जिनेंद्रदर्शन करनेकी रूढि तो अवश्य प्रचलित है तथापि उपर्युक्त पारमार्थिक महत्त्वसे प्रायः अनभिज्ञ होनेसे उक्त प्रयोगात्मकपद्धतिपूर्वक भावात्मक दर्शन करनेका या इस पद्धतिके अभ्यासका भी अभाव दिखाई देता है जो एक शोचनीय विषय है।

आत्मस्वभाव एकांत शुद्ध, प्रत्यक्ष अनुभूतिस्वरूप है यानी कि आत्माका स्वरूप ही अनंत स्वसंवेदनमय है। जो कि तेरहवें गुणस्थानमें श्री अर्हंत जिनेश्वरदेवको पूर्ण प्रगट होता है। प्रत्येक आत्मा, ऐसा अनंत स्वसंवेदन अपने निजात्मस्वभावमेंसे प्रगट कर सके वह स्वाभाविक है। अतएव यदि यथार्थ प्रकारसे श्री जिनेंद्रदर्शन करनेमें आये तो, दर्शन करनेवालेके अपने विद्यमान स्वसंवेदनरूप ज्ञानवेदनके आविर्भाव हेतु श्री जिन प्रतिमा सर्वोपरी निमित्त है।

'वेदना' स्वयं एक ऐसा दृश्य है जो कि दर्शकको वेदनामें सहज ले जाता है। उदाहरणके रूपमें जब किसी प्राणीको तीव्र असातावेदनीयसे पीडित देखनेमें आये तो देखनेवालेको असाताका अंश उत्पन्न हो आता है और उसके प्रति स्वाभाविक करुणाकी उत्पत्ति हो आती है। ऐसा जीवका सहज स्वभाव है। ऐसी वैभाविक परिस्थिति सभीके अनुभवगोचर है। तब फिर प्रगट अनंत स्वसंवेदनमयी जिनमुद्रित जिनप्रतिमाजीके दर्शन करनेवालेके स्वसंवेदनका आविर्भाव होना वह एक सहज स्थिति है। अतः अति सुगमतासे स्वसंवेदनके आविर्भाव हेतु यदि तथारूप यथार्थ दृष्टिकोण (—प्रयोगात्मकपद्धति)को साधनेमें आये तो वह अत्यंत उपकारी सिद्ध होए, ऐसा है।

उसी प्रकार श्री जिनमुद्रामें अनंत शांतिका वेदन भी प्रसिद्ध है जो बगैर बोले ही आत्मशांतिको दर्शाती है। इसीलिये ओघसंज्ञासे भी जिन दर्शन करनेपर दर्शकको मानसिक शांति मिले बिना नहीं रहती। तो फिर जो ज्ञानीपुरुष आत्मशांतिके ज्ञाता हैं उन्हें तो अनंत सुधामय शांतिस्वरूप श्री जिनमुद्राके दर्शन करने पर, उनका स्वयंभू परिणमन शांतस्वभावमें विशेषरूपसे ढल जाये उसमें भला आश्चर्य क्या है ?! अतएव श्री जिनप्रतिमाकी स्थापना, जिन्हें आत्मस्वभावका ज्ञान नहीं उन्हे आत्मज्ञानका तथा आत्मज्ञानीपुरुषोंको वह आत्मध्यानका कारण है।

यद्यपि तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले जीवोंको अनेक स्तरसे अध्यात्मका विषय बुद्धिगम्य होता है। उससे उन्हें यह भी स्पष्ट समझनेमें आता है कि 'अंतर्मुख होनेसे ही सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्ररूप अंतर्मुखी परिणामसे वीतरागी धर्म समुत्पन्न होता है।' तिसपर भी 'अंतर्मुख किस प्रकार होना' उसकी यथार्थ विधि, उन्हें अपनेसे प्राप्त हो नहीं पाती तथा ऐसी ही कोई वस्तुस्थिति होनेके कारण उनके लिये वह एक समस्या बन पड़ती है। तब ऐसेमें यदि किसीके द्वारा 'अंतर्मुख होनेका प्रयोग' दर्शानेमें आये तो वह उनके लिये कितना उपकारी सिद्ध हो ??

'अंतर्मुख होना' यह एक सर्वोत्कृष्ट गूढ रहस्य है तथा 'अंतर्मुख होनेकी कला' अध्यात्मविद्याका एक रहस्यमय प्रकरण है।

श्री जिनमुद्राका निरीक्षण करके उसके दर्शन करनेवालेको वह प्रगटरूपसे निरवशेष अंतर्मुखता दर्शाती है। सर्वथा अंतर्मुख दशाके दर्शन करनेवालेके लिये 'अतर्मुख होनेकी विधि-'को समझनेका यह एक अनूठा प्रयोग है।

अतः अंतर्मुख होनेकी अनादिकी समस्याको, अत्यंत सरलता व सुगमतासे, हल करनेके लिये श्री जिनप्रतिमाकी अत्यंत महिमापूर्वक स्थापना करनेकी प्रणालिका है। जिसमें उक्त महत्त्वपूर्ण पारमार्थिक हेतु सन्निहित है। अतएव किसी भी प्रकारका छल पकड़कर जिनप्रतिमाकी स्थापनाका निषेध करने योग्य नहीं है।

स्व. पूज्य पंडित श्री दीपचंदजी कासलीवाल 'अनुभवप्रकाश'के 'देव अधिकार'में लिखते हैं कि "क्योंकि देवसे परम मंगलरूप निजानुभव प्राप्त करते हैं, इसलिए देव उपकारी हैं।" अतएव उनकी पूज्यता है। "जिनस्थापनासे सालम्बध्यान द्वारा निरालम्बपद प्राप्त करता है।" इसीभाँति श्री'योगसार'में भी कहा है कि "जिन समरो, जिन चिंतवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध; ते ध्यातां क्षण एकमां, लहो परमपद शुद्ध" १९.

तात्पर्य यह है कि स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्राको देखकर स्वसंवेदनभावरूप अपने स्वरूपको अवलोकनमें लेवे। तब फिर उसमें एकाग्रता द्वारा दर्शक भव्योंके अनंत तेजोमय निजस्वरूपका प्रकाशन होता है। आत्मस्वभावमें जो अनंत सहज प्रत्यक्षताका तेज सामर्थ्यरूपसे भरा हुआ है जिसकी अभिव्यक्तिरूप केवलज्ञानकी अनंत प्रत्यक्षता श्री जिनमुद्रामें प्रसिद्ध है।

उल्लेखनीय है कि परोक्षज्ञानमें उक्त प्रत्यक्षताका विचार करनेसे या आत्मस्वरूपके प्रतिपादक ग्रंथोंके पठन द्वारा या अन्य किसी प्रक्रियासे

उसका यथावस्थितरूपसे आविर्भाव होना असंभव है। क्योंकि उक्त सभी प्रक्रियाओंमें परोक्षज्ञानकी ही प्रवृत्ति है और अनादिसे जीव परोक्षज्ञानसे परिचित है व ज्ञानकी प्रत्यक्षतासे अनभिज्ञ है ऐसेमें इस अज्ञात विषयका ज्ञान श्री जिनमुद्रा द्वारा होता है।

इस भाँति श्री जिनबिंब, संसारमें जीवके उपजे हुये मोहरूपी प्रचंड दावानलको शांत करनेके लिए मेघवृष्टिके समान है। तथा अनादि घोर अज्ञान – तिमिरके नाश हेतु सूर्यके प्रबल प्रकाश सदृश है। अतः ज्ञानियोंका फ़रमान है कि वीतरागमूर्तिकी उपासना अवश्य ही करने योग्य है।

इस विषयमें पू. श्री दीपचंदजी लिखते हैं कि "इस स्थापनाके निमित्तसे तीन काल, तीन लोकमें भव्यजीव धर्म साधते हैं, इससे स्थापना परम पूज्य है। द्रव्यजिन द्रव्यजीव (है) वह भी भावपूज्य है। इससे भावीनयसे पूज्य है।"

अंतमें उक्त प्रकारसे जिनेंद्रदर्शनकी विधिको संप्राप्त करके दर्शन करनेपर स्वसंवेदनभाव, आत्मशांतिका वेदन, अंतर्मुखता और ज्ञानकी प्रत्यक्षता प्रयोगात्मकपद्धतिसे समझमें आती है। अतः ऐसे प्रकारसे दर्शन करना योग्य है जिससे कि निजानुभव प्राप्त हो। वास्तवमें जिनदर्शन निजदर्शन है। श्री जिनेंद्रके दर्शन करने पर भावजिन द्वारा वैसा ही अपना स्वरूप ज्ञानमें आविर्भाव होता है।...इति

▢

आत्म-उन्नतिका प्रशस्त क्रम

हरसंप्रदायमें रूढिगत धार्मिक अनुष्ठान होते रहते हैं। जिनका अनुसरण आत्मश्रेय इच्छुक मनुष्य प्रायः करते हैं। तथापि उससे आत्मश्रेय नहीं होता। कारण कि उन्हें आत्मकल्याणकी इच्छा – जिज्ञासा मात्र ऊपर ऊपरकी होती है। परंतु जिन्हें अंतरकी गहराईमेंसे आत्मकल्याणकी भावना प्रगट होती है वे जीव सत्‌की शोधक वृत्तिवाले होते हैं। जिससे वे सन्मार्ग पर आ जाते हैं। इस विषयमें ज्ञानी पुरुषोंने गहन विचार करके एक महत्त्वके विषय पर प्रकाश डाला है और वह विषय कार्य-पद्धतिके क्रम संबंधित है।

जिस धार्मिकक्षेत्रमें मुख्यतः तत्त्वज्ञानके अभ्यासपूर्वक तत्त्वज्ञानके सूक्ष्म विषयोंका अभ्यास किया जाता है वहाँ भी साधनाके क्रमके ऊपर नहींवत् ध्यान देनेमें आता है। कहीं कहीं क्रम-सबंधित कार्यपद्धति व्यवस्थित की गई होती है वहाँ भी मोक्षमार्गके अनुभवी पुरुष जिस क्रमसे आत्मसाधना कर गये हैं, वैसा क्रम दिखाई नहीं पड़ता। यानी कि साधनाका क्रम प्रायः कल्पितरूपसे व्यवस्थित करनेमें आता है। अतएव वैसेमें क्रमविपर्यासके मुख्य दोषके कारण मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती और जो कुछ साधनाके नाम पर परिश्रम किया हो वह निष्फल जाता है।

अनेक सत्पुरुषोंने साधनाके क्रम पर गहन विचार किया है और अपने अनुभवपरसे उस क्रमका बोध अनेक प्रकारसे किया है; इतना ही नहीं प्रत्युत अन्य जीवोंके कल्याण के लिये क्रम-विपर्यासके महा दोषको टालने हेतु क्रमपर बहुत भार देकर उस ओर मुमुक्षु जीवोंका ध्यान खिंचा है।

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके अनेक वचनामृत इस विषय के उदाहरणस्वरूप हैं। जैसे कि, पत्रांक – ८३में तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफामें प्रवेश करनेवाले जीवको अंतरकी गहराईमेंसे (नेपथ्यमेंसे) सबसे पहले कैसे प्रश्न उद्‌भव होते हैं उनका वर्णन किया है। यथा :

❑ आप कौन हैं ? कहाँसे आये हैं ? क्यों आये हैं ? आपके पास यह सब क्या है ? आपको अपनी प्रतीति है ? आप विनाशी,

अविनाशी अथवा कोई त्रिराशी है ? ऐसे अनेक प्रश्न अंतरकी गहराईमेंसे उत्पन्न होने पर आत्मा इन प्रश्नोंसे घिर जाता है तब संयोगोंकी चिंताके अन्य विचारोंके लिये बहुत ही थोड़ा अवकाश रहता है। और ऐसा होनेसे उदयभाव नीरस हो जाते हैं और उक्त प्रश्नोंके समाधान हेतु विचारकी भूमिकामें अवकाश प्राप्त होता है। और इन विचारोंसे ही अंतमें सिद्धि है यानी कि अनंतकालकी उलझन दूर होती है और जिस अविनाशी अव्याबाध सुखकी इच्छा है, उसकी प्राप्ति होती है। किसी भी मुमुक्षुजीवको पूर्णताका लक्ष्य निर्धार हो उसके पूर्वकी ऐसी भाव-भूमिका है। जिसका निर्देश इस पत्रमें है।

अन्य पत्रांक १२८में यों है कि : अनंतकालके परिभ्रमणमें जिन – जिन कारणोंको लेकर जीवने परिभ्रमण किया है उन – उन कारणोंका स्मरण होता है। भूतकालमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवको तीव्र राग, तीव्र द्वेष और तीव्र माया आदि कषायोंके कारण अकथ्य दुःख भोगने पड़े हैं जिनका अंतरकी गहराईमेंसे स्मरण होने पर—

❐ जीवको संसारके प्रति अत्यंत वैराग्य आता है तथा वैसा वैराग्य, संसार-परिभ्रमणसे छूटकर सादिअनंत अव्याबाध समाधि-सुख-दशा हेतु, अत्यंत दृढ़ इच्छापूर्वक, लक्ष्य निर्धार करनेके लिये प्रेरित करता है। जब तक संसारकी अशरणता और असारता नहीं लगती, नहीं भासित होती तब तक उक्त पूर्ण दशाका ध्येय/लक्ष्य सुनिश्चित नहीं होता।

तथा जब तद्रूप पूर्णताका लक्ष्य होता है तबसे ही मुमुक्षुजीवनका मुमुक्षुतारूप यथार्थ प्रारंभ होता है। पूर्णताके लक्ष्यवाले मुमुक्षुजीवकी दृढ़ताके पूर्व उसकी भाव-भूमिका कैसी हो ? जिसका तादृश चित्र इस पत्रमें प्रारंभके चार पैराग्राफ द्वारा प्रदर्शित हुआ है। और जिनका मुमुक्षुजीवको बारंबार गहन अवगाहन अवश्य करने योग्य है। पूर्णताका लक्ष्य होनेके अर्थ, वैराग्यकी भूमिकामें आनेके बाद लक्ष्य निर्धार होनेके पूर्व छूटने संबंधी गहन मंथन चलता है तब ही लक्ष्यकी दृढ़ता उत्पन्न होती है। उसे दर्शाते हुए कृपालुदेवके वचन, मुमुक्षुजीवके मर्मस्थलको छू लें जैसे हैं। लिखते हैं कि, "चाहे जो हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र

हो, और दुर्निमित्त हो, परंतु (परिभ्रमण न हो) ऐसा करना ही। तब तक हे जीव! छुटकारा नहीं है।" इस भाँति किसी भी कीमत पर निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचना है।

❒ इस प्रकार जब कोई अपूर्व संवेग मुमुक्षुके परिणामोंमें उत्पन्न होता है तब वह मुमुक्षु यथार्थ प्रकारसे ज्ञानीके मार्गके अगले क्रममें प्रवेश करता है तथा किसी भी पर्यायमें संतुष्ट नहीं होता।

उक्त प्रकारसे क्रममें प्रवेश होनेके पश्चात् उसका मुमुक्षुजीवकी अगले क्रमकी दशामें प्रवेश होता है। तब वह जीव क्रमशः आत्मस्वरूपके निश्चयके प्रति किस प्रकारसे आगे बढ़ता है उस क्रमको सूचित करनेवाला आपश्रीका (पत्रांक २५४) वचनामृत प्रसिद्ध है। इस पत्रमें मुमुक्षुजीवके परिणमनका विकास-क्रम प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैं कि, अनादिका स्वच्छंद जो कि महा दोष है उसे घटाने और नाश करने हेतु मुमुक्षुजीव अपने वर्त रहे दोषका अपक्षपातरूपसे अवलोकन करता है।

अनादिसे जीवको गुणकी रुचि न होनेके कारण जाने–अनजानेमें उसे दोषका पक्षपात होता है। ऐसी दशामें जीव स्वच्छंदके कारण ज्ञानीके मार्ग पर चलनेके बजाय अपनी कल्पनासे धर्मको प्राप्त करना चाहता है। परंतु उसमें उसे अनंतकालमें भी सफलता मिल नहीं सकती।

❒ परिपूर्ण निर्दोषताके लक्ष्यसे जो मुमुक्षु अपने दोषका अपक्षपातरूपसे अवलोकन करता है उसे ऐसा निजावलोकन होनेका प्रेरक बल, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी अपूर्व भावनामेंसे उत्पन्न हुआ होता है। इसके अलावा यथार्थ अवलोकन होना संभवित नहीं है।

❒ ऐसे अवलोकनसे स्वच्छंदकी जहाँ थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी बोधबीज योग्य भूमिका होती है। तब भी 'मार्गप्राप्ति' को रोकनेवाले मुख्यतः तीन कारण होते हैं। इन कारणोंकी चर्चा करनेके पूर्व इस भूमिकामें साथ ही साथ उत्पन्न होनेवाले आनुषंगिक परिणामोंका ज्ञान, मुमुक्षुजीवको अपने परिणामोंके साथ तुलना (मिलान) करनेके लिये (कर्ताबुद्धिसे करने हेतु नहीं) करना योग्य है।

निजावलोकनके प्रयोगके कालमें आत्मस्वरूपकी खोज तथा अपूर्व जिज्ञासा वर्तती है। साथ ही साथ जिज्ञासाकी तीव्रताके कारण सर्व उदयगत परिणामोंके प्रति नीरसता वर्द्धमान होती जाती है। स्वरूपकी अंतर् खोज अत्यंत उत्कटतापूर्वक चलती है जो कि स्व-कार्यकी लगन व आतुरतावाले परिणाम सहित होती है।

❐ उक्त प्रकारके परिणामोंके कारणको लेकर इस भूमिकामें आत्मार्थी जीवको निज-हितके प्रयोजनकी सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टि उत्पन्न हो आती है जो अत्यंत महत्त्वकी उपलब्धि है। इस भूमिकामें भी अन्य कितने ही विशिष्ट प्रकारके अविनाभावीरूपसे उत्पन्न होनेवाले आनुषंगिक परिणाम ऐसे होते हैं कि उस जीवका संसार-बल परिक्षीण होनेसे उसे पूर्व प्रारब्धउदयसे आ पड़नेवाले कुटुम्ब आदिके कार्योंमें जुड़ना बोझरूप लगता है, त्रासरूप लगता है और आँखमें रज–कण जैसा खटकता है।

प्रयोजनकी तीक्ष्ण दृष्टिके कारण उसकी समयके सदुपयोग हेतु अत्यंत सावधानी रहती है तथा तत्त्वज्ञानका अभ्यास गहन मंथनपूर्वक, रुचिपूर्वक और सूक्ष्मबोधकी अभिलाषापूर्वक चलता है।

इस भूमिकामें अन्य कितने ही महत्त्वके योग्यतासूचक परिणामोंमें लोकसंज्ञाका अभाव, सरलता, मध्यस्थता, विशालता आदि परिणामोंकी उत्पत्ति होती है।

ज्यों ज्यों अंतर् अवलोकन बढ़ता है त्यों त्यों आत्महितकी जागृति विशेष होती जाती है और आत्मार्थीकी भूमिकाकी निर्मलता भी संप्राप्त होकर वह वर्द्धमान होती जाती है।

❐ —इस इतनी भूमिकाकी संप्राप्तिके पश्चात् भी, यानी कि स्वच्छंद प्रायः दब गया है तथापि 'मार्गप्राप्ति'को रोकनेवाले जो मुख्य कारण हैं उनमें प्रथम कारण 'इस लोककी अल्प भी सुखेच्छाका रह जाना' है। और उसे टालने हेतु—

उदयप्रसंगोंमें इष्ट–अनिष्टत्वका अभिप्राय निरस्त करने हेतु उसका पुरुषार्थ चलता है। इस प्रकारके प्रयत्नके कारण कहीं भी, अल्प भी सुखबुद्धि न रहे एतदर्थ अत्यंत सावधानी वर्तती है। यदि ऐसा न हो तो जीवकी योग्यता रुक जाती है।

❐ आत्मज्ञान प्राप्तिके इच्छुक ऐसे आत्मार्थी जीवको सर्व प्रथम आत्मज्ञान प्राप्त ऐसे सत्पुरुषकी खोज रहती है। यों होनेका कारण यह है कि इसके सिवा आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनी संभव नहीं है, ऐसी सूझ उसे होती है। ऐसी 'सूझ' एक निश्चित प्रकारकी सुयोग्यता है। जिसके कारण वह मात्र सत्पुरुषको इच्छता है तथा इसके अलावा अन्य किसी साधनको नहीं इच्छता। जो जीव अन्य साधनकी इच्छा रखकर आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करना चाहता है तो उसे अन्य प्रकारसे प्राप्ति हो नहीं सकती, ऐसी वस्तुस्थिति है।

❑ जब ऐसी खोज करनेवाले जीवको पहचानपूर्वक सत्पुरुषका चरणसान्निध्य प्राप्त होता है तब उसे सत्पुरुषमें परमात्माका दर्शन होकर, परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न होती और उस महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण आता है; जो परम योग्यताका सूचक है।

इस भूमिकाके आनुषंगिक परिणामोंमें सर्व प्राणियोंके प्रति दासत्व, करुणा, कोमलता आदि परिणाम समुत्पन्न होते हैं। एवं आत्महितार्थ निःशंकता भी उत्पन्न होती है।

❑ ज्यों ज्यों अंतर् अवलोकनके प्रयोगमें प्रयोगाभ्यास बढ़ता जाता है त्यों त्यों सूक्ष्मतासे अपने भावोंका परिचय होने लगता है। तथा 'सर्व विकल्पोंमें एकांत दुःख है' ऐसा उसे अनुभवपद्धतिसे समझमें आता है और ओघसंज्ञा टलती है। तर्क, युक्ति, न्याय और आगमसे, यानी कि विचारपद्धतिके द्वारा 'विकल्पमें सन्निहित दुःख'की समझ नहीं आती। कारण कि दुःख – सुख अनुभवका विषय है, विचारका नहीं। अतएव सुख – दुःखको समझने हेतु अनुभवपद्धति ही यथार्थ है।

❑ इस प्रकारके प्रयोगमें आगे बढ़ने पर भावोंका परिचय बढ़नेसे भावोंकी जातिकी भी पहचान होती है। तथा स्वभाव व विभाव जातिकी पहचान होने पर अवलोकनका प्रयोग परिवर्तित होकर भेदज्ञानके प्रयोगमें परिणमित होता है।

❑ भेदज्ञान भी विकल्पका विषय नहीं अपितु प्रयोगका प्रकार है। जिसका बारंबार अभ्यास करनेपर ज्ञानलक्षणसे – वेदनसे स्वभावके निर्णय होनेकी भूमिका आती है।

❑ स्वभावका निर्णय अर्थात् परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीतिको ज्ञानियोंने बीजज्ञान कहा है। जिसमें स्वयंके स्वरूपअस्तित्वका ग्रहण होता है और वैसा होते ही चैतन्यवीर्यका स्फुरण होता है।

इस भूमिकामें आत्मार्थी जीव, पुरुषार्थकी कोई ऐसी अपूर्व स्वसम्मुख-स्थितिमें प्रवेश करता है कि जो आगे बढ़कर स्वानुभवमें परिणमित होता है।

❑ ज्ञानलक्षणके आधारसे आत्मस्वरूपका निर्णय यानी कि स्वरूप जितना अनंत महिमावंत और अनंत सामर्थ्यशाली है, स्वरूपकी जितनी सर्वोत्कृष्टता है उसका ज्ञानमें, विकल्पकी आड़ बगैर, सीधा प्रतिभास होता है। जिससे अत्यंत अत्यंत स्वरूप महिमा वर्तने लगती है। यह स्वरूपमहिमाकी पर्याय ही एक स्थितिमें 'सम्यग्दर्शन' ऐसा नाम प्राप्त

करती है।

—इस आलेखका सारांश यह है कि, संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवको मोक्षमार्गकी प्राप्ति होनी अति अति दुर्लभ है। इसीलिये जीवका अनंतकाल परिभ्रमणमें गुज़रा है। मोक्षमार्गकी प्राप्तिके पश्चात् तो इतनी विड़ंबना नहीं जितनी कि मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें है। कारण कि मोक्षमार्गी जीवोंने तो निजस्वरूपको जान लिया है और सम्यग्ज्ञान होनेसे मुक्त होनेकी विधिको अनुभवगम्य किया है। तथा जीव कैसी कैसी भूलें करके भटका है उसका उन्हें परिज्ञान भी हुआ है। इसी कारण अनजान आत्मार्थी जीवको मोक्षमार्ग की प्राप्ति हेतु अनुभवी ज्ञानी पुरुषकी महत् आवश्यकता महसूस होती है। और वे ज्ञानी मुमुक्षुभूमिकाके क्रमके ज्ञाता होनेसे व्यवस्थितरूपसे समीप आये हुए जीवको तैरनेमें तथा वह कहीं भी भूल करे तो उसको सँभाल लेनेमें अंतरंग कारणभूत होते हैं। इसीलिये सत्शास्त्रोंमें जगह जगह सत्पुरुषके योगको आत्मयोग जानकर उसकी प्रशंसा की है।... इति.

❑

विज्ञान और धर्म

विज्ञान : 'विज्ञान' शब्दसे प्रायः भौतिकविज्ञानका ख़याल आता है; कारण कि अपने दैनिक व्यावहारिक जीवनमें भौतिकविज्ञानके साथ घनिष्ठ संबंध है। वर्तमानमें मनुष्यका जीवन, भौतिकविज्ञान द्वारा उपलब्ध साधनोंसे ओतप्रोत है; जिसके कारण, इसके सिवा, अन्य विज्ञानकी कल्पना सुलभ नहीं है। परंतु यहाँपर इस भौतिकविज्ञानके विषयको गौण रखकर, मुख्यरूपसे जीवका यानी आत्मपदार्थका विज्ञान विषयक आलेखन करना है।

यद्यपि पदार्थविज्ञानके मूल सिद्धांत (Fundamental Principles) तो जीवपदार्थको भी समानांतररूपसे लागू पड़ते हैं; अतएव जीवके स्वरूपको यहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे समझने हेतु ध्यान आकर्षित करना है जिससे कि तदनुसार जीवके कार्यक्षेत्र व कर्तव्य–अकर्तव्यका विचार यथार्थरूपसे किया जा सके।

जिसप्रकार भौतिकपदार्थ—शरीर, वस्त्र आदि—अनेक परमाणुओंके संयोगसे बने हुये हैं; उनमें जड–परमाणुओंका अस्तित्व है। उसी प्रकार आत्मा भी एक अस्तित्व धारक (चैतन्य) पदार्थ है; जिसे उसके गुण–धर्मों (Properties & Characters) द्वारा यानी कि वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे समझना–अनुभवना ज़रूरी है। कारण कि स्वयं जीव है और स्वयंको सुख–दुःखका अनुभव होता है। तथापि, आजका मानव अपने मूल अस्तित्वसे अनभिज्ञ है। तथा उस अस्तित्वमें होनेवाली सुख–दुःखकी अवस्था (Position)के विज्ञानसे भी अनजान है।—इस कारणसे जीवकी सुख–दुःखकी समस्या बगैर हल (Unsolved) रही है। अतएव मानवजातिके समक्ष यह सबसे दुरूह समस्या खडी है। यदि जीवपदार्थका विज्ञान समझनेमें आये तो, ऐसी सुख–दुःखकी अवस्थाका परिज्ञान समझकर, उसका समाधान हो सके ऐसा है। इस भाँति जीवके विज्ञानका सर्वाधिक महत्त्व स्थापित होता है।

धर्म : 'धर्म' शब्दसे प्रायः किसी सांप्रदायिक रूढि अथवा दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, जप, तप, संयम, नियम, तीर्थयात्रा, मंदिर जाना वगैरहका ख़याल आता है; कारण कि इस व्यवहारको अपने

धर्मके रूपमें स्वीकार (Concept) करनेके आदी हैं। प्रत्येक संप्रदायमें धर्मका बिरद (यश) है। तथा मानव उन सांप्रदायिक क्रियाओंसे ओतप्रोत होकर वर्तता है। ऐसा रूढिधर्म ही मनुष्यकी आत्मा बन चूकी होनेसे तद्‌विषयक चुस्तता भी देखनेमें आती है। इसलिये धर्मके बारेमें, ऐसी रूढि सिवा, अन्य विचारका ही अवकाश नहीं रहता। यहाँपर मुख्यरूपसे उक्त प्रकारके धर्मका आलेखन नहीं करना है अपितु उसे गौण रख कर, जीवके जीव तरीकेके—आत्मशुद्धिरूप—धर्मका तथा उसके कारणोंका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे विचार करना है। उसका विस्तार करनेके पहले, वर्तमान परिस्थितिका विहंगावलोकन करें तो वह निम्न प्रकार है :-

सामान्यतः मनुष्यप्राणी अपने पूर्व कर्मके अनुसार कोई एक संप्रदायमें जन्म लेता है। तथा वह उसमें 'कर्मानुसारिणी बुद्धि'के वश उस संप्रदायकी रूढिका अनुसरण करता है। फिर भले ही वह हिंदु, जैन, ईसाई, इसलाम या बौद्ध इत्यादि किसी भी संप्रदायमें हो! रूढिधर्मकी प्रवृत्तिमें प्रवर्तते बुद्धिशाली लोग भी क्वचित् ही सत्य – असत्यका विचार/विवेक अथवा तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करते हैं। तथा तत्संबंधी गंभीर विचार किये बगैर ही 'अपने माने हुये' धर्मको सर्वोपरि गिनते हैं! संक्षेपमें कहें तो धर्मके क्षेत्रमें प्रायः सर्वत्र अंधश्रद्धा (Blind Faith)का ही साम्राज्य फैला हुआ प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।—ऐसा मध्यस्थतासे विचार करनेवालेको अवश्य लगेगा, लगे बगैर न रहेगा।

इस विषयकी करुणता (Tragedy) यह है कि, संप्रदायबुद्धिसे विचारोंकी संकुचितता जन्म लेती है और उससे लोग एक ओरसे धर्मकार्यको अतिशय मूल्यवान कार्य गिनते होनेपर भी दूसरी ओर से उसकी समीचीनताके बारेमें तुलनात्मक विचार करने अथवा उसकी तहकीकात करनेसे कतराते हैं या दूर रहना चाहते हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बुद्धिवादके इस युगमें भी धर्मके विषयमें, सदियों जूनी/ पुरानी, अंधश्रद्धाकी परिस्थिति प्रवर्त रही है, सो बड़ा आश्चर्य है। लोग एक मिट्टीके तवे जैसी तुच्छ ख़रीदीमें भी जाँचकर (टकोर देकर) ख़रीद करते हैं, तो क्या इतनी भी जाँच, महान् गिने जानेवाले, 'अपने मान्य' धर्मके बारेमें करनेमें आती है ?

यद्यपि अधिकांश मनुष्योंको तो आजीविका/भरण – पोषण विषयक प्रवृत्तिमें ही अपनी शक्ति व समय खर्चना पड़ता है; जिससे धर्मकी बाबत गौण रह जाती है। परंतु संयोगसे जिनकी आर्थिक संपन्नता

अच्छी है वैसे लोग भी संयोगोंकी वृद्धि करने या रक्षण करनेकी सावधानी संबंधी रस – वृत्तिमें अपने जीवनका खर्च करते हैं तथा उसमें ही उनका जीवन पूरा हो जाता है; जिससे धर्मके विषयमें गंभीर विचार करनेका अवकाश ही नहीं रहता।

तथापि सहज वस्तुस्थिति ऐसी है कि : जहाँ लाभ – नुकसान समझमें आवे वहाँ हर व्यक्ति सावधानीसे प्रवर्तता है; अतएव यों निश्चय होता है कि धर्मके विषयमें बगैर विचार किये—अंधश्रद्धासे—प्रवर्तन करनेमें कोई नुकसान समझनेमें नहीं आया है, जिससे उसके प्रति संपूर्ण उपेक्षावृत्तिसे प्रवर्तन किया जाता है।—यह वास्तवमें कमनसीब परिस्थिति है। जब अति बुद्धिशाली लोग भी अंध अनुकरण करें तो उसे देख सखेद आश्चर्य होता है।

उक्त कारणसे ही आजकी नई पीढ़ी बुद्धिवादी होनेसे वह धर्मके प्रति उपेक्षित रहती है। परंतु धर्मको यदि वैज्ञानिकदृष्टिसे समझने – समझानेका प्रयास करनेमें आये तथा उसमें जीवकी सुखदुःखकी समस्याका विचार करनेमें आये तो उसमें किसी भी संप्रदायके विचारवान जीवको अवश्य रस पड़े बिना न रहे। अतएव इस विषयपर, साहित्यके क्षेत्रमें, किसीकी भी आलोचना किये बिना, मुक्त चर्चा होने योग्य है।

वस्तु – विषयको पकड़े रहकर, उसके गुण – दोष तथा लाभालाभका वस्तु – विज्ञानके साथ कितना संबंध है उसे अब यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जायेगा।

पदार्थविज्ञानके दृष्टिकोणसे विचारने पर, जीव एक अस्तित्व धारक पदार्थ है। जैसे जडपरमाणु अनेक वस्तु के रूपमें (वस्त्र, मकान इत्यादि) अस्तित्व रखते हैं वैसे। जैसे जडपरमाणु परमाणुरूपसे – जडरूपसे रहकर – टिककर अवस्थासे अवस्थांतर होता है यानी कि जगतके पदार्थोंमें परिवर्तन होता ही रहता है, इसलिये परिवर्तनशीलता पदार्थका स्वभाव है; वैसे जीव भी परिवर्तनशील पदार्थ है और उसकी अवस्था बदलती रहती है, सो प्रत्यक्ष है।

जिस प्रकार जडपदार्थकी अपनी शक्तियाँ और गुण – धर्म हैं; उसी प्रकार जीवकी भी अपनी स्थायी शक्तियाँ और गुण – धर्म हैं। जिस तरह जडपरमाणु परस्परके संयोग – वियोगरूप कारणोंको लेकर निश्चित प्रकारकी अवस्थाको धारण करता है [उदाहरणार्थ : दूधमें जामन डालनेसे दही बनता है]; उसी तरह जीव भी अन्य जीव और जड पदार्थोंके

निमित्तसे कोई ख़ास अवस्थाको प्राप्त करता है।—इस भाँति पदार्थविज्ञानके मूलभूत सिद्धांतोको विचारने पर जीव भी एक पदार्थ है ऐसा स्वीकारने योग्य है।

अब, किसी भी पदार्थके परिज्ञान हेतु उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको समझना आवश्यक है। वैसे जीवके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको समझनेसे जीवकी प्रयोजनभूत ऐसी सुख–दुःखरूप अवस्थाके विज्ञानको भी समझा जा सकेगा। इस विषयकी चर्चाके पूर्व यहाँ जीवके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको समझ लेना है।

१. **द्रव्य** : जीव एक चेतन द्रव्य है अर्थात् किसी भी जीवका स्वयंका या अन्यका अस्तित्व चेतनतासे मालूम पड़ता है।

२. **क्षेत्र** : प्रत्येक जीवका क्षेत्रफल स्वयंके शरीरके क्षेत्रके प्रमाण है। (शास्त्रमें उसे असंख्यात प्रदेश प्रमाण कहा है। प्रदेश = एक परमाणुका क्षेत्रफल।).

३. **काल** : काल माने अवस्था। अवस्था दो प्रकार की है : क्षेत्रात्मक तथा भावात्मक। क्षेत्रकी अवस्था कर्मजनित चारों गतियोंमें जो जैसे शरीर होते है उसके आकारसे होती है। तथा भावकी अवस्था विकारी और निर्विकारी अर्थात् विकृत और शुद्ध ऐसे दो प्रकारकी होती है।

४. **भाव** : भाव यानी जीवके स्वरूपभूत मूल गुण या शक्तियाँ। जैसे कि अस्तित्व, ज्ञान, सुख आदि अनंत शक्तियाँ।

—इसके अतिरिक्त जीवके तथा जडपदार्थके धर्म (Characters) होते हैं। उसमें द्रव्यके, गुणके व अवस्थाके अपने अपने धर्म होते हैं। ऐसे धर्मोमें भी अन्य पदार्थोंके साथ निमित्तपने संबंध रखनेवाले (Relative Relation) धर्म भी होते हैं। इन आधारभूत वैज्ञानिक सिद्धांतोंके अनुसार जीवका स्वरूप समझना आवश्यक है। कारण कि जीवके उत्पन्न होती ज्ञानकी तथा सुख–दुःखकी अवस्थायें जीवके विज्ञान अनुसार ही होती हैं।

यद्यपि हर जीवको सुख चाहिए, दुःख बिलकुल नहीं। परंतु इस एक समस्याका अनुभव सभीको है कि कहे जानेवाले सुखके साधन प्राप्त होनेपर भी जीवको सुख प्राप्त नहीं होता अपितु दुःख होता है। जिसे सर्व प्रकारकी अनुकूलता होते हुए भी अशांति–बेचैनी आदि होती है, ऐसा प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। अतएव यों फलित होता है कि :

सुख – दुःखका मूल कारण उससे कोई अलग ही होना चाहिए।

उपर्युक्त समस्याका वैज्ञानिकदृष्टिसे विचार करनेसे उसका समाधान अवश्य होने योग्य है। यथा :-

जीवद्रव्यके मुख्य गुण—श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र = आचरण, पुरुषार्थ = वीर्य और सुख—की अवस्था/परिणमनका विज्ञान समझना ज़रूरी है। तदुपरांत जीवमें अनादि – अनंत अस्तित्वशक्तिका अनंत सामर्थ्य है जिसके कारण वह सदैव स्वतंत्ररूपसे अपने अस्तित्वको धारण करता है जिससे वह कभी नाशको प्राप्त नहीं होता। ऐसे अपने स्वतंत्र (Independent) यथार्थ अस्तित्वसे स्वयं अनजान होनेसे जीव अपनेको सदा अन्य—शरीर, आहार, पानी, हवा आदि—पदार्थोंके आधारसे (Dependent) जीवित, टिकता, निबहता जानता है, मानता है। इसलिये स्वयंकी परतंत्रता के स्वीकारसे और स्वतंत्रताके अस्वीकारसे जीवको सदैव परतंत्रताके अनुभवका दुःख होता है।—ऐसी भूल, अनभिज्ञतारूप अज्ञानसे हुयी है। इस अज्ञानको श्रद्धाका/मान्यताका बल मिलनेसे वह दृढ़ हो चुका है।

हरएक पदार्थके मूल गुण उस पदार्थकी संपत्ति (Property) है। जीवमें भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख, अस्तित्व, प्रभुत्व, जीवत्व इत्यादि अनंत गुणरूप अपनी अनंत शक्तियाँ हैं। जो हरएकको अपना अनंत सामर्थ्य है।—ऐसे अपने अनंत सामर्थ्यसे अनभिज्ञ जीवको, अपने ज्ञान, सुख आदिके लिये अन्य पदार्थसे वैसी अवस्थाको प्राप्त करने जैसी भ्रांति हुआ करती है।—ऐसी भ्रांतिसे जीव अन्य पदार्थकी परतंत्रताके अधीन होकर, उसे उसकी अपेक्षा रहा करती है और उसकी प्राप्ति हेतु वह अनेक उपाधिजन्य प्रवृत्ति करके उपाधिमय जीवन व्यतीत करता है। सुखकी प्राप्ति हेतु यों करना अनिवार्य है। ऐसा निर्णय सर्व साधारण मनुष्योंको स्वीकार्य होता है।—यह विपरीत निर्णय (Misconcept) ही मूलतः सर्व दुःखोंका मूल है। यदि अपनेमें विद्यमान शक्तिरूप संपत्तिकी पहचान कर स्वीकारनेमें आये तो जीवका जीवन/परिणमन पलट जाए यानी कि सर्व दुःखसे मुक्त होकर जीव सुखी हो। इसीलिये विचारवान महापुरुषोंने यह महा सिद्धांत प्रकाशित किया है कि : 'सर्व क्लेश और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्मज्ञान करना वह है।' यदि आत्मज्ञानसे सर्व दुःखोंसे छूटकर सुखी हुआ जाता हो तो ऐसे आत्मज्ञानका मूल्य अन्य किसी भी प्रकारसे न हो सके उतना

है—यों सहज समझा जा सके ऐसा है।

यहाँ आत्मज्ञान, यानी आत्मा संबंधी जाननेको मिले वैसा सिर्फ़ जानकारीरूप ज्ञान नहीं बल्कि आत्मा तो अनुभवनीय पदार्थ होनेसे उसका अनुभवज्ञान, वह (ज्ञान) सर्व संपूर्ण सुखका मूल कारण है।

इसीलिये जैनदर्शनके पौराणिक आगमोंमें धर्मकी परिभाषा रूढिप्रधान क्रियासे नहीं दर्शायी है परंतु वैज्ञानिक पद्धतिसे दर्शायी गई है कि : "वत्थुसहावो धम्मो" (—"वस्तुका स्वभाव धर्म है।") अर्थात् जीव अपने स्वभावस्वरूपसे परिणमन करे – अविकृत अवस्थाको प्राप्त हो सो धर्म है। यानी कि आत्माकी अविकृत अवस्था माने विकारी अवस्था मिटकरके आत्माकी अवस्थामें शुद्धिकरण होना सो धर्म है। सांप्रत धार्मिकसमाजमें रूढिधर्मकी क्रियाका साम्राज्य व्याप्त है, उसमें वैज्ञानिक ढ़ंगसे आत्मशुद्धिकी प्रक्रिया विलय हो चुकी है सो सर्वाधिक करुणता है।

संसारमें जीव प्रायः शारीरिक असाताके दुःखको अनुभवता है तथा मानसिक दाह, उपाधि, तनावके दुःखको अनुभवता है। इसके सिवा जन्म लेनेके समय तथा मरणके समय भी केवल अत्यंत दुःखका अनुभव करता है; उसका वैज्ञानिक कारण/निदान समझनेमें आए तो तद्‌विषयक गृहीत विपरीत निर्णय (Misconcept) छूटे और दुःख निवारणके सत्य उपाय हेतु विश्वास उत्पन्न हो। इस दुःख निवारणके वैज्ञानिक उपायको धर्म कहनेमें आता है। इस प्रकार धर्म आत्माका वैज्ञानिक परिणमन (Oriented Position) है। इस विषयपर आगे बढ़नेके पहले, यहाँ दुःखके निदानके बारेमें विचार करना आवश्यक है।

ऊपर कहे अनुसार, 'विपरीत निर्णय' ही सर्व दुःखका मूल है। दुःखका यह निदान, जीवके गुणधर्म अनुसार करना योग्य है। तदनुसार विचार करनेपर जीवमें रहे विशिष्ट गुण—श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुख, पुरुषार्थ (वीर्य) आदिकी शक्ति, तथा उनके परिणमनस्वभावकी प्रकृति और विकृति यहाँ विचारने योग्य है।

जीवपदार्थके विज्ञानके मुताबिक जीवमें शक्तिरूपसे अनंत सुख रहा हुआ है। उस सुखगुणकी प्रकृति सुखरूप परिणमन करनेकी है। परंतु जीवके विपरीत निश्चय (Misconcept)के कारण सुखगुणका परिणमन दुःखरूप प्रगट होता है। जीवमें अपनेमें ही रहे ऐसे सुखगुणकी अनभिज्ञतावश जीव अपना सुख अन्यत्र, अन्यपदार्थ और अन्यभावमें

खोजता है अथवा प्राप्त करनेका वृथा प्रयत्न करता है। अतएव सुखकी अभिलाषा होने पर भी—विपरीत कार्यपद्धतिके कारण—सुखगुणकी (परिणमनमें) विकृति होकर वह दुःखरूप परिणमन करता है। 'स्वरूपमें रहे हुए सुखको किस भाँति प्रगट करना' उस विधिसे भी जगतके जीव अनजान होनेसे, स्वमतिकल्पनासे सुख प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं और फलस्वरूप वे सुख प्राप्त करनेके बदले दुःखका अनुभव करते हैं।

जगत्‌में कहे जानेवाले बुद्धिमान मनुष्य भी सुख–दुःख होनेके उक्त विज्ञानसे अनभिज्ञ होनेके कारण तथा अनेक प्रकारके संयोगो (—लक्ष्मी, सत्ता, कुटुम्ब, परिवार, मित्र आदि) मेंसे सुख प्राप्तिका निश्चय होनेके कारण उन उन पदार्थोंको जुटानेका अनंतकालसे प्रयत्न करते हैं। परंतु कही जाती सुखकी सर्व प्रकारकी सामग्री प्राप्त होते हुए भी सुखका अनुभव प्रत्यक्षतः देखनेमें नहीं आता। बल्कि अतृप्तदशामें (भोग–उपभोगको भोगने पर भी) अशांति/बेचैनी प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। यों होनेका वैज्ञानिक कारण यह है कि : आत्मामें रहे हुए सुख और शांत स्वभावको यथार्थ विधिसे उत्पन्न करनेके बदले, जिन पदार्थोमें सुख–शांति नहीं है, ऐसे-उन पदार्थोंमेंसे सुख प्राप्तिका वृथा प्रयत्न किया होनेसे, सुखगुणका विपरीत परिणमन, ऐसा जो दुःख वह, उत्पन्न होता है।

आश्चर्यकी बात तो यह है कि, अति बुद्धिशाली लोग भी वैज्ञानिक रीतिसे 'सुख'की खोज क्यों नहीं करते ?! एवं कहे जानेवाले सुखके साधनोंके पीछे मात्र अंधश्रद्धासे व्यर्थ अंधी दौड़ लगाते हैं ? वास्तवमें तो सुखको वैज्ञानिक रीतसे साकार (Materialise) करनेमें सच्ची बुद्धिमत्ता है। बुद्धिशाली मनुष्य व्यावहारिकजीवनके सर्व प्रसंगोंमें चारों ओरसे पूरेपूरी जाँचपड़तालपूर्वक कार्य करते है; परंतु सुख–दुःखकी समस्या के बारेमें, जो कि सर्वाधिक प्रयोजनभूत है उसमें, अंधविश्वाससे जीवन जीते हैं ! परिणामस्वरूप दुःखका मूल कारण (Rootcause) नहीं मिलता। अतः वैज्ञानिक रीतिसे दुःखका निदान होना योग्य है। कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी अति अल्पवयमें भी सही लिखते हैं कि :

> **"लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो ?**
> **शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो;**
> **वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो;**
> **एनो विचार नहीं अहोहो ! एक पल तमने हवो !!!"**

उक्त प्रकारसे ज्ञानीपुरुषोंने जीवकी विपरीत समझ तथा सुख विषयक

विपरीत निश्चयको सर्व दुःखका, सर्व दोषोंका और दोषसे उत्पन्न होनेवाले जन्म – जरा – मरणादि संसारपरिभ्रमणका निदान किया है जो गंभीर विचार करने पर तथा अनुभवसे जाँच करनेपर यथार्थ है, यों लगे बिना नहीं रहेगा। यह बात जिसे समझमें आती है वह दुःखसे मुक्त होनेके सही उपाय को खोजता है, और जो खोजता है उसे वह उपाय अवश्य मिलता है।

ज्ञानीपुरुषोंने सर्व दुःखसे, सर्व दोषसे और तद्‌जनित संसार परिभ्रमणसे मुक्त होनेका उपाय 'एक आत्मज्ञान करना'—ऐसा प्रसिद्धरूपसे प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं अपितु उन महापुरुषोंने तथारूप आत्मज्ञान संप्राप्त करके, आत्मामेंसे आत्मसुखकी अनुभूति करके, आत्मानुभव करनेकी 'विधि' निष्कारण करुणासे दर्शायी है। वैसे ज्ञानीपुरुष त्रिकाल जयवंत हों! और उन्हें त्रिकाल नमस्कार हो! नमस्कार हो!!

जिस 'आत्मज्ञान'से सर्व प्रकारके दुःखोंसे छूटा जा सकता हो और सदाके लिये निराकुल आत्मसुखकी उपलब्धि होती हो वैसे आत्मज्ञानके मूल्यांकन हेतु जगत्‌में कोई पदार्थ ही नहीं है। यह सहज समझा जा सके ऐसा है। जिस आत्मज्ञानसे यानी कि अपने स्वरूपके ज्ञानसे जीव अनजान है और ज्ञान प्राप्ति हेतु आत्मज्ञान संबंधी ग्रंथोंका अध्ययन तथा जप – तपादि अनेक प्रकारसे परिश्रम करता है फिर भी 'आत्मा', मूर्तिमंत आत्मज्ञानस्वरूप ऐसे ज्ञानीपुरुषके बिना जाना नहीं जा सकता—ऐसा निश्चय भी उन ज्ञानियोंने मार्गबोधरूपसे प्रकाशित किया है। जिस जीवमें 'ऐसा विवेक' किसी धन्य पलमें प्रगट होता है, तब वह जीव, अन्य सर्व विकल्प छोड़ करके ऐसे पुरुषकी खोज करता है; तथा जब तक ऐसा योग प्राप्त न हो तब तक वह शिथिल होकर नहीं बैठता, अथवा अन्य किसी उपायमें नहीं जुटता। सर्व दुःखसे और सर्व क्लेशसे मुक्त होनेके उपायमें 'आत्मज्ञान-दातार' के प्रत्यक्षयोगका महत्त्व जब तक जीवको समझमें न आये, तब तक 'वह उपाय' प्राप्त होना विकट है, इतना ही नहीं वरन् अशक्य भी है। तथा जिसे उपर्युक्त समझसे 'प्रत्यक्ष सत्पुरुष'का महत्त्व भासित होता है, वह मात्र उन्हें ही इच्छता है, उन्हींकी आश्रयभावनामें वर्तता है; उस जीवको अवश्य ज्ञानीपुरुषकी प्राप्ति होती है। उसे प्रत्यक्षयोगमें प्रत्यक्षपरिचयसे उनकी पहचान होती है। वह पहचान होनेपर वह मुमुक्षुजीव, मोक्षदातार ऐसे ज्ञानीपुरुषको भजता है और उनके प्रति कोई अपूर्व स्नेह उमड़ता है, वह ऐसा

कि उस सजीवनमूर्तिके वियोगमें एक धड़ी आयुष्य भोगना वह भी उसे भारी पीड़ादायक लगता है; तिसपर भी प्रारब्धयोगसे ज्ञानीपुरुषके वियोगमें रहना पड़े तो वह उन्हीं में वृत्ति रखकर, उदासीनभावसे जीता है; परंतु उनके बदलेमें अन्य किसी पदार्थको स्थान देना उससे नहीं बन सकता। जीवको ऐसी दशा जब आती है तब वह जीव उत्तमकोटिकी सुपात्रताको प्राप्त करता है और तब जीवको आत्मज्ञानप्राप्तिका अवसर अति निकट होता है, यों समझने योग्य है।

जीवके गुण–धर्मों तथा जड परमाणुके गुण–धर्मोंका विज्ञान, सुख–दुःखकी उत्पत्तिके साथ जुड़ा हुआ है। अनादिसे जीवने जड परमाणुकी अनेक प्रकारकी अवस्थाओंमें सुख अथवा दुःखका कल्पित निश्चय किया है, कर रहा है; वह जीवके ज्ञानगुणके परिणमनकी विकृति/विपर्यास है। परंतु ज्ञानका स्वभाव–प्रकृति, वैसे परिणमन करनेकी नहीं है; ज्ञानका स्वभाव तो स्व–पर पदार्थको जैसा है वैसा जाननेका है। ऐसी यथार्थ समझ जब होती है तब जडपदार्थ—शरीरादि संयोगों—में सुख–दुःख होनेका या देनेका गुणधर्म नहीं है, ऐसा यथार्थ समझमें आता है परंतु वैसा अनुभव नहीं होता (वरन्) उससे विपरीत अनुभव हो रहा है—यों न होनेका प्रयत्न, यथार्थ समझमें चलता है। प्रयत्न यानी पुरुषार्थ, वह जीवके वीर्यगुणकी अवस्था है तथा वह हमेशां ज्ञानका अनुसरण करती है। जड परमाणुकी किसी भी अवस्थामें सुख–दुःख नहीं होने पर भी उसमें, जब ज्ञान, कल्पित निश्चयसे सुख–दुःखकी कल्पना करता है तब जीवका पुरुषार्थ जडपदार्थकी अवस्थाके प्रति—अवस्थाओंमें फेरफार करनेमें—प्रवर्तता है। परंतु उस वृथा परिश्रम के कारण, सुखगुण विकृत होकर आकुलतारूप परिणमन करता है। कारण कि जीव, जडपदार्थमें फेरफार कर सके ऐसी वैज्ञानिक वस्तुस्थिति नहीं है। जड परमाणु तो हमेशा स्वयंके गुणधर्म अनुसार ही परिणमन करते हैं। हाँ, परस्पर जीव और जडकी अवस्थाओंमें निमित्त–नैमित्तिकभावसे, सदृशरूप परिणमन करनेका धर्म अवश्य है, तिसपर भी, एक दूसरेका कार्य करे वैसा गुण/स्वभाव नहीं है। कारण कि दोनों द्रव्योंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सर्वथा और सर्वदा भिन्न हैं। इसलिये दोनोंका अस्तित्व, अपने अपने अस्तित्वगुणके कारण सदा स्वतंत्र है। जड परमाणुमें ज्ञान, श्रद्धा, सुख आदिका अभाव है तथा उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अनंत गुण–धर्मोंका सद्भाव है।

जीवकी जो ज्ञान, श्रद्धा, सुख आदि शक्तियाँ हैं, उनका स्वभाव शुद्ध – अविपरीतपने परिणमन करनेका है। तथापि अनादिसे उनका विपरीत परिणमन चल रहा है। उसका विज्ञान जब तक समझनेमें नहीं आता तब तक जीव विपरीतपने परिणमन करता है, जो दोषित है। 'दोष होनेसे दुःखकी उत्पत्ति होती है तथा निर्दोषतासे सुखकी उत्पत्ति होती है।'—यह कारण – कार्यकी वैज्ञानिक परिस्थिति है। अतः **दोष और निर्दोषताके विज्ञानको समझना अति आवश्यक है।**

जीवके मुख्य गुणों – —ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य आदि—के परिणमनके विज्ञानको तथा परस्परके कार्य – कारणपनेको समझनेसे, अज्ञानसे उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकारकी अकुलाहट मिट जाती है। अतएव इस विषयमें यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है :-

प्रथम, जीवके ज्ञानगुणको समझना : यह जीवमें रही हुई एक अद्भुत चमत्कारिक मुख्य शक्ति है। इसका मुख्य स्वभाव स्वयंका स्वयंरूप अनुभव (स्वसंवेदन) करनेका है तथा स्व – पर पदार्थको जाननेका है।

संसारपरिभ्रमणके दौरान जब जीवका ज्ञान विवेक करता है तब वह आत्मकल्याणका मार्ग/उपाय खोजता है। उसके पूर्व अविवेककी अनादि अवस्थामें ज्ञानकी विकृत/भ्रांतिरूप अवस्था होती है तथा उसके कारण वह अपने उपर्युक्त मूल स्वभावको भूल कर, जडपदार्थमें सुखबुद्धिसे और आधारबुद्धिसे परिणमन करता है जिससे परमें निजत्व जानकर एकत्वबुद्धिसे प्रवर्तता है। ज्ञानकी ऐसी विपरीतता, सर्व दोषका तथा सर्व दोषसे उत्पन्न होते दुःखका मूल कारण है।

श्रद्धा भी ज्ञानके उक्त दोषका निमित्त पाकर परका स्वपने श्रद्धान करती है। यद्यपि श्रद्धाका मूल स्वभाव अपनेको अपने मूलस्वरूपमें श्रद्धान करनेका है; जो ज्ञानमें स्वानुभव होने पर प्रगट होता है। श्रद्धागुणका परिणमनस्वभाव पूरा परिणमन करनेका है, जिससे विपरीत अवस्थामें भी उसमें पूरी विपरीतता होती है अर्थात् मिथ्याश्रद्धान भी पूरा होता है। तथा अविपरीत/सम्यक् अवस्थामें भी श्रद्धा पूर्ण शुद्ध होकर परिणमन करती है। सर्व जीवको श्रद्धान तो होता ही है। परंतु अपने मूल पूर्ण शुद्ध सिद्धसदृश स्वरूपका श्रद्धान करना वही शुद्ध/सम्यक् श्रद्धा है। वैसा न होनेपर अपनेको अपनी अन्यथा मान्यता होनी सो मिथ्याश्रद्धा है।

चारित्र जीवका गुण है। उसका स्वभाव स्वस्वरूपमें वीतरागभावसे लीन/ स्थिर रहनेका है। परंतु जब तक ज्ञान और श्रद्धा परपदार्थमें अपनापन जानती है और मानती है तब तक चारित्रगुणका परिणमन परमें रागभावसे एकाग्रता/ लीनताको प्राप्त होता है। तथा जीव जब सद्‌गुरु-योगसे अपना मूल स्वरूप जानकर, श्रद्धान करता है तब वह स्वस्वरूपमें एकाग्र होने हेतु समर्थ होता है। इसप्रकार आत्मस्वरूपकी एकाग्रतारूप जो आत्मध्यान है वह हमेशां ज्ञान और श्रद्धान अनुसार होता है। किसी भी जीवका ज्ञान–श्रद्धान सम्यक् हुए बिना, आत्मध्यान हो ही नहीं सकता—ऐसा वस्तुका वैज्ञानिक स्वरूप है। अतएव श्रद्धा–ज्ञानकी सम्यक्ता बगैर कोई ध्यानका प्रयत्न करता है तो उसे कभी सफलता नहीं मिलती बल्कि वह वृथा परिश्रम होता है और वह मार्गाभास होनेसे वहाँ (नया बुद्धिपूर्वकका) गृहीतमिथ्यात्व उत्पन्न करता है।

तथा, जीवमें सुख नामकी शक्ति है। इस गुणके कारण जीव–मात्र सुखको इच्छता है। 'निराकुलभावसे परिणमन करना' ऐसा उसका (जीवका) स्वभाव है। परंतु अनादिसे जीवको भ्रांति है। अनंत, बेहद, अचिन्त्य, अव्याबाध सुख स्वयंमें होनेपर भी उसका भान नहीं है। परंतु जिस जड परमाणुमें सुखका गुण या सुख देनेका गुण नहीं है, तो भी उसमेंसे सुख मिलेगा, ऐसी जीवको भ्रांति है। जिससे वह उसमेंसे सुख प्राप्ति हेतु भौतिकपदार्थोंको प्राप्त कर, उन्हें भोगकर, सुखी होनेका मिथ्या प्रयास करता है; फलस्वरूप सुख प्राप्त करनेके बदले सुखगुणकी विकृति होकर उसे दुःखका—अतृप्तिसे उत्पन्न होती आकुलताका—अनुभव होता है। परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने ठीक ही कहा है :

"सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो,...
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो ?"...

जीव मात्रका जो प्रयोजन है ऐसा 'सुख', उसके विज्ञानको समझे बिना, जगत में सर्वत्र दुःखी प्राणी देखनेमें आते हैं। तथा भौतिकपदार्थोंके पीछेकी दौड़में अनेक प्रकारसे क्लेश और विग्रह होते देखनेमें आते हैं। परंतु वस्तुके स्वरूपको यथार्थरूपसे समझने पर दुःखसे मुक्त होकर, आत्मिक सुख जो कि स्वभाव धर्म है, उसकी (अनुभवरूप) प्राप्ति हो सकती है। विश्वमें इस विज्ञानकी अप्रसिद्धि है वह एक करुण स्थिति

है। निःस्पृही वीतरागी महात्माओंने इस विषयका, अपने अनुभवसे, सत्शास्त्रोंमें वैज्ञानिकपद्धतिसे निरूपण किया है जिसका बृहत् प्रसार होना आवश्यक है जिससे ज्यादासे ज्यादा जीव लाभ ले सके। तथा, जीवमें 'वीर्य' ('पुरुषार्थ) शक्ति है। उसका स्वभाव परिणामोंको आत्मसम्मुख करनेका है। तिसपर भी स्वस्वरूपके बेभानपनेमें—अन्यपदार्थमें सुखका निश्चय होनेसे—वीर्यगुणका विकृत परिणमन होता है। जिससे विकारीभाव होनेमें जीवका बल रहता है अथवा जीवमें विकार ज़ोर करता है। परंतु जब जीव ज्ञानमें निजस्वरूपका निश्चय करता है तबसे वीर्यका अंश दिशा बदलता है यानी कि स्वरूपसम्मुख होता है; तथा वह आगे बढ़कर विकल्पको शांत करता है तब अंतर्मुख होकर आत्मपरिणामोंकी शुद्धि करता है, और आध्यात्मिक आनंदका अनुभव कराता है।

—इस प्रकार जीवके मुख्य गुणोंके परिणमनकी तथा परस्परके कार्य–कारणकी उपर्युक्त वैज्ञानिक परिस्थिति है।

उक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि जीवका धर्म सुख–शांतिरूप परिणमन करनेका है, और वह निर्दोषताके फलस्वरूप उत्पन्न होता है; अतः किसी भी जीवको सुख प्राप्तिके लिये निर्दोषता उत्पन्न करना आवश्यक है। विज्ञानके सिद्धांत अनुसार 'कारणपूर्वक कार्यकी उत्पत्ति होती है।' यहाँ भी निर्दोषता कारण है तथा सुख उत्पन्न होना सो कार्य है।—ऐसा वस्तुस्वरूप है। अतएव वैज्ञानिक ढंगसे निर्दोषता उत्पन्न हो उस दृष्टिकोणसे विचार करना उचित है।

उल्लेखनीय है कि, निर्दोषता उत्पन्न होनेके उक्त विज्ञानसे जो अनजान हैं वे अन्य अनेक कल्पित प्रकारसे यथामति उस दिशामें प्रयत्न करते देखनेमें आते हैं परंतु उससे सफलता नहीं मिलती। अतः जिन्होंने सम्यक् प्रकारसे निर्दोषता–पवित्रता प्राप्त की है वैसे पुरुषके आश्रयसे वह विज्ञान सुगमतासे प्राप्त होने योग्य है।

जीवकी अवस्थामें अज्ञानजनित विभावका रोग अनादिसे घर घालकर रहा हुआ है। उसके फलस्वरूप जीव चौरासी लाख योनिमें जन्मता है और मरणको प्राप्त होकर परिभ्रमण कर रहा है। उसे मिटानेके लिये, सर्वप्रथम उसको मिटानेकी चिंतना होनी अनिवार्य है। संसारमें जीव वर्तमान और भावी संयोगोंकी चिंतासे घिरा हुआ है जिससे उसे भवरोगकी चिंता विस्मृत है, जो उचित नहीं है; कारण कि संयोग मात्र वर्तमान भवपर्यंत मर्यादित हैं। उनकी तुलनामें अनंत जन्म–मरणकी समस्या

अनंतगुनी है। उसका 'वास्तविक विवेक' ज्ञानमें होनेसे, विपरीत श्रद्धा निर्बल होती है तथा चारित्रगुणमें उत्पन्न होनेवाले—काम, क्रोधादि—विकारका रस टूटने लगता है। इस प्रकार मुख्य गुणों—ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र—के परिणमनमें यथार्थ प्रकारसे सुधार होनेकी शुरूआत होती है। तब यथार्थ वैराग्य और पात्रता प्रगट होती है। और वर्तमान संयोगोंकी चिंता मिटकर, उसके प्रति सहजभावसे उदासीनता–उपेक्षा उत्पन्न होती है।

ऐसी दशामें जीवके ज्ञानमें जन्म–मरणसे छूटनेके उपायका मूल्यांकन भासित होता है। तथा वैसे उपायको सर्वोत्कृष्ट अग्रता (Top Priority) देना सहज बनता है। तथा वैसे उपायको किसी भी मूल्य पर, किसी भी स्थितिमें प्राप्त करनेका अभिप्राय गढ़नेमें आता है। तथा वैसे अभिप्रायके अनुसार प्रयास शुरू होता है।—इस भूमिकामें ज्ञानका विवेक–विचारबल बढ़ता है और विपरीत श्रद्धाका बल अधिक घटता है; वह दृढ़ मुमुक्षुता है; जिसमें जीव सम्पूर्ण निर्दोष होनेके ध्येयको बाँधकर, पूरी शक्तिसे अपने आदर्श तक पहुँचनेके लिये बलवान उद्यम करने हेतु तत्पर होता है और शीघ्रतासे पूर्ण निर्दोष होना चाहता है। 'संसारमें दोषसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें सुख नहीं वरन् उसमें सुखाभास है'—ऐसा इस भूमिकामें समझनेमें आता है। तथा जगतके किसी भी प्रसंग या वस्तुमें अल्प-भी सुखकी आशा/अपेक्षा रहित शुद्ध अंतःकरणसे ऐसा भासित होता है।

इस भूमिकामें गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें जीवकी वृत्ति जाती है तथा वर्त रहे परिणमनमें जागृति आती है। जिससे वह मोक्षार्थी जीव अपक्षपातरूपसे अपने दोषोंको देखता है। जिसके कारण परिणाममें दोष नीरसताको प्राप्त होते हैं। दोषका बल रस पर आधारित है। इस प्रकारसे अवलोकन द्वारा दोषकी शक्ति ज्यों ज्यों टूटती जाती है त्यों त्यों परिणामकी मलिनता घटती जाती है। और जैसे जैसे मलिनता घटती है वैसे वैसे ज्ञानमें निर्मलता आती है कि जिस निर्मलताके कारण आत्महितका विवेक बलवान होता जाता है तथा विपरीत श्रद्धामें मंदता आती है यानी कि श्रद्धाकी विपरीतता कमज़ोर पड़ती जाती है। इस प्रयोगसे यथार्थरूपसें मुमुक्षुता वर्द्धमान होती जाती है तथा निजहितके प्रयोजनभूत विषयमें दृष्टि सूक्ष्म व तीक्ष्ण होती जाती है; जिससे सूक्ष्म दोष भी जाननेमें आ जाते हैं। ज्ञानमें जैसे जैसे सूक्ष्मता गढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वभावका भावभासन आता जाता है।

उक्त प्रकारसे अवलोकनके प्रयोगसे अपने अनुभवमें आनेवाले भावोंका

परिचय बढ़ता है तथा उस परिचयसे विभावजाति और स्वभावजातिके भावोंकी पहचान होती है। विभावजातिके भावों/परिणामोंमें मलिनता, दुःख और स्वभावविरूद्धता भासती/लगती है; तथा स्वभावजातिके भावमें यानी कि ज्ञानमें पवित्रता, निराकुलता और अविरुद्धता भास्यमान होती है। दोनों भाव एक ही समयमें, एक ही अवस्थामें होनेपर भी उनके बीचका अंतर, अनुभवसे जाननेमें आता है।—उसे भेदज्ञान कहते हैं। उस भेदज्ञानका लक्षण यह है कि विभावकी तीव्र अरुचि हो, वे ज़हर जैसे लगें। अतएव वहाँसे सहज खिसकनेका प्रयास आत्मा करती है। ऐसे भेदज्ञानके प्रयोगके दौरान जीवको अपने मूल सहज स्वरूपका निश्चय होता है। भेदज्ञानका प्रयोग, ज्ञानसे भिन्न ऐसे रागादि भावोंकी भिन्नता जाननेसे होता है—यह जानना, मात्र वैचारिकभूमिका जितना मर्यादित नहीं होता; परंतु ज्ञानकी व्यापकताका अनुभव, ज्ञानकी वेदकताका अनुभव और ज्ञानकी प्रत्यक्षताका 'अनुभवसे जानना' होता है। और इसीलिये ज्ञानके आधारसे, ज्ञानमें, आत्मस्वभावका यथार्थ निश्चय होता है। वह आत्मस्वभाव, अपना परमात्मपद, अनंतज्ञान व अनंतसुख आदि दिव्यगुणोंसे परिपूर्ण भासने लगता है। अनंत ऐश्वर्य अपनेमें ही मालूम पड़नेसे, जगतके सर्व पदार्थोका—जो कि आत्मासे शून्य हैं उनका—मूल्य चला जाता है; तथा स्वयं स्वयंके अभेदस्वरूपकी महिमामें लीन रहने लगता है।

जीवके विज्ञान अनुसार जहाँ सुखका निश्चय हो वहाँ परिणाम लगनेका सहज पुरुषार्थ हुआ करता है। इसलिये उक्त स्वरूपनिश्चयमें पुरुषार्थ स्वरूपके प्रति सहज गतिमान होता है और एक स्थितिमें वह अभेदभावसे स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। उसे ही आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन, आत्मज्ञान व आत्मध्यान कहनेमें आता है; जो भवनाशक परिणाम है। यहाँ आत्मानंद और अमृतमयी आत्मशांति प्राप्त होनेसे आत्मा तृप्त होती है अर्थात् आत्माको अवर्णनीय सुखामृतमयी तृप्तिका अनुभव होता है।—यह वस्तुस्वभावरूप 'धर्म' है।

ऐसा 'धर्मका विज्ञान' सर्व दुःख और सर्व क्लेशसे मुक्त होनेका उपायरूप है तथा आत्मशांतिकी प्राप्तिका 'उपाय' है; अतएव वह पूरे उद्यम और उत्साहसे उपासनीय है।

जिन महात्माओंने सर्व दोषोंके क्षय करनेरूप 'उपाय'को निष्कारण करुणासे प्रकाशित किया है उन्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो !! ❐

समकितका बीज

सम्यग्दर्शन के अभिलाषी जीवोंको यह अवश्य विचार करने योग्य है कि : सम्यक्त्वका बीजभूत कारण क्या हो सकता है ? अतएव इस परिप्रेक्ष्यमें परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके अनेक विधानोंका अनुसंधान कर इस विषयपर यहाँ यथाशक्य प्रकाश डालना उचित लगता है।

इस विषयमें तीन बातें विचारणीय हैं :

(१) अनंतकालसे परिभ्रमण करते इस जीवने यम, नियम, संयम और शास्त्राभ्यास आदि अनेक धर्मसाधन करनेपर भी कोई बीजभूत भूल रहती आयी है कि जिस कारणको लेकर जीव मोक्षमार्गमें प्रवेश नहीं कर सका।

(२) उपर्युक्त बीजभूत भूल कौनसी है ? वह कैसे मिटे ? तथा उसके मिटनेकी परिस्थिति क्या हो सकती है ?

(३) उपर्युक्त बीजभूत भूल मिटनेसे जीवके परिणाम किस प्रकारसे वर्ते कि जिससे वे परिणाम विकास प्राप्त कर शुद्धात्मस्वरूपकी पहचान हो कर, परमार्थ निर्विकल्प सम्यक्त्वको प्राप्त कर निर्वाणमार्गमें प्रवेश करे ?

जिनागममें प्रसिद्ध है कि मोक्षका मूल सम्यग्दर्शन है अथवा धर्मका मूल- सम्यग्दर्शन है। "दंसणमूलो धम्मो"—यह आगमका सूत्र सर्वविदित है। वर्तमानकालमें सम्यग्दर्शन अति दुर्लभ है इतना ही नहीं अपितु तीनोंकालमें उसकी दुर्लभता समझनी योग्य है। अनंत कालमें अनंतबार अनेक प्रकार के धर्मसाधन करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं हुयी यही उसकी दुर्लभता सिद्ध करती है। इसलिये विचारवान जीवको सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु उसके अंगभूत कारण तथा कारण के कारण तकका विचार करना आवश्यक है।

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी पत्रांक-२४९में स्पष्ट लिखते हैं कि "प्रायः सत्पुरुषके दर्शन और योगकी इस कालमें अप्राप्ति दिखायी देती है। जब ऐसा है, तब सद्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुषको कहाँसे प्राप्त हो ? और अमुक काल व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तब मुमुक्षुता भी कैसे रहे ?... सम्यक्त्वप्राप्त पुरुषका

निश्चय होने पर और योग्यताके कारणसे जीव सम्यक्त्व पाता है।... और इससे यह निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चिंतनका फल मोक्ष होता है, क्योंकि सत्पुरुष ही 'मूर्तिमान मोक्ष' है।

उपर्युक्त वचनामृतके अनुसार यह स्पष्ट होता है कि अनंतकालमें जीव इस जगह भूला है। जीवकी यह बीजभूत भूल हुयी है। यानी कि यम, नियम, संयम और शास्त्रज्ञान इत्यादिक अनंतबार किये हैं परंतु सत्पुरुषका निश्चय/पहचान न होनेके कारण वे सभी साधन ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे नहीं हुए; जिससे वे सर्वसाधन बंधनरूप हुए हैं। अनंतकालमें सजीवन मूर्तिका योग अनंतबार हुआ है मगर पहचान नहीं हुयी; इसलिये प्रायः पूर्वमें हो गये महा पुरुषों की भक्ति आदि करनेमें आती है। इसी पत्र–२४९में वे फरमाते हैं कि "पूर्वमें हो गये महापुरुषोंका चिंतन कल्याणकारक है; तथापि वह स्वरूपस्थितिका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीवको क्या करना चाहिये यह बात उनके स्मरणसे समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष योग होने पर बिना समझाये भी स्वरूपस्थितिका होना हम संभवित मानते हैं।"

उपर्युक्त वचनामृतके अनुसंधानमें आपश्रीने पत्र–१७२में अत्यंत महत्त्वके विषयका प्रतिपादन किया है कि "निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना; सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना; सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके लक्षणका चिंतन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना; उनके मन, वचन और कायाकी प्रत्येक चेष्टाके अद्‌भुत रहस्योंका बारंबार निदिध्यासन करना; और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।—यह ज्ञानियों द्वारा हृदयमें स्थापित, निर्वाण के लिये मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रतिक्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रोंका, सर्व संतोंके हृदयका और ईश्वरके घरका मर्म पानेका महामार्ग है। और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति और उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना? आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्षमें और चाहे तो उसके बादमें या उससे पहले, यही सूझनेपर, यही प्राप्त होनेपर छुटकारा है।"

उपर्युक्त वचनामृतमें अत्यंत स्पष्ट निर्देश है कि: किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर यदि उनकी पहचान हो, तो जीव सर्व उदयके प्रति उदासीन होकर सत्पुरुषकी भक्तिके प्रति लीन होने इत्यादिके उक्त

परिणामोंमें परिणमित होता है और जिससे उस जीवको निर्वाणपदके अधिकारी होनेकी पात्रता समुत्पन्न होती है। यानी कि यथार्थ प्रकारसे उस जीवके दर्शनमोहका अनुभाग घट कर वह उपशम होने योग्य स्थितिको प्राप्त करता है। दर्शनमोह अन्य किसी भी धर्मसाधनसे यथार्थरूपसे मंद न होनेके कारण विचारवान जीवोंने इस मार्गका ग्रहण किया है। उक्त वचनामृतमें तद्‌विषयक महत्त्व समझाने हेतु अत्यंत भारपूर्वक विधान किया है।

तदुपरांत आपश्रीने 'आत्मसिद्धि शास्त्र'में वर्णित समकित के प्रकारोंका विशेषार्थ समझाते हुए तीन प्रकारके समकित दर्शाये हैं। जिसमें पहला समकित यानी कि निर्विकल्प परमार्थअनुभवरूप समकितके कारणका कारण 'सत्पुरुषकी पहचान तथा उस पहचानसे प्राप्त वचनकी प्रतीति, आज्ञाकी अपूर्व रुचि और स्वच्छंदनिरोधतासे सत्पुरुषकी भक्ति' इत्यादिक परिणाम दर्शाये हैं।

तथापि, अनादि कालसे वर्तमान तकके अनंतकालमें एकबार भी सत्पुरुषकी पहचान नहीं हुयी। इसलिये तथारूप पहचान न होने संबंधी कारण विचारणीय हैं। सत्पुरुषकी पहचान होनेमें किस प्रकारके प्रतिबंधक भाव होते हैं उन्हें समझकर, उनका अभाव करना योग्य है। कारण कि सत्पुरुषकी पहचान होनी वह सम्यक्त्वके कारणका बीज है। अर्थात् सम्यक्त्वका कारण आत्मस्वरूपकी पहचान है, तथा वह पहचान होनेकी योग्यता, विद्यमान सत्पुरुषकी पहचानके सिवा कभी किसी को प्राप्त नहीं होती। कारण कि आत्मस्वरूप मूलतः शक्तिरूप तत्त्व है। जब कि सत्पुरुषके स्वरूपमें प्रगटरूपसे आत्मस्वरूप व्यक्त हुआ है। अतएव व्यक्तकी पहचान हुए बिना अव्यक्तकी पहचान होनी असंभव है।

ज्ञानीपुरुषकी पहचान न होनेमें जीवके तीन महान दोष जानने योग्य हैं : एक तो "मैं जानता हूँ", "मैं समझता हूँ" इस प्रकारका जो अभिमान जीवको रहा करता है; ऐसे 'स्वच्छंद'के कारण ज्ञानीके विषयमें अपने समान कल्पना रहा करती है, और अपनी कल्पनाके अनुसार ज्ञानीके वचनका तोलन किया जाता है। इस प्रकारके स्वच्छंदके कारण, थोड़ा भी शास्त्र-वाचन आदि क्षयोपशमज्ञान होनेसे अनेक प्रकारसे उसे प्रदर्शित करनेकी जीवको इच्छा रहा करती है। परलक्ष्य और असत्संगके कारण इस प्रकारसे वर्तता जीव ज्ञानीसे अनजान रहता है।

दूसरा, कुटुम्ब – परिग्रहादिकमें ज्ञानीपुरुषकी अपेक्षा विशेष राग जब

तक रहता है तब तक ज्ञानीपुरुषके प्रति जितना विनयान्वित होना चाहिए व उनकी आज्ञाका अनुसरण करना चाहिए उसमें वह भाव (राग) आड़े आता है। असार और अशरणभूत ऐसे कुटुम्ब–परिग्रहादिकमें महत्ता व अधिकताके परिणाम रहते हैं उसके कारण लौकिकभावना और लोकप्रतिबंधसे उदास होना नहीं बन सकता। रागके विषयमें भी जब तक उपर्युक्त फेरफार होकर, ज्ञान–ध्यान इन सबके कारण जो ज्ञानीपुरुष और उनकी आज्ञाका अनुसरण करनेका महत्त्व भास्यमान होकर अधिकता नहीं आती तब तक जीव ज्ञानीपुरुष से अनजान रहता है।

तीसरा, लोकभयके कारण, यानी कि लोकमें अपकीर्ति होनेके भयके कारण व अपमान होनेके भयके कारण, ज्ञानीपुरुष विद्यमान होनेपर भी उनके प्रति उपेक्षाका सेवन अथवा तो ज्ञानीसे विमुख रहना बनता है अथवा तो उनके प्रति जितना विनयान्वित होना चाहिए उतना न होना।

—ये तीन कारण जीवको ज्ञानीसे अनजान रखते हैं, इसलिये जैसे बने वैसे आत्मकल्याणकी भावना करके उन्हें कम करना अथवा निवृत्त करना आवश्यक है। उपर्युक्त कारणोंके सद्भावमें रहकर जीव अन्य अनेक प्रकारके धर्मसाधन करे तो भी वह, सम्यक्त्वकी प्राप्ति या उसकी कारणभूत स्थितिमें नहीं आ सकता।

तो अब, ज्ञानीकी पहचान कैसे हो ? कि : ज्ञानीपुरुषकी पहचान जीवको 'दृढ़ मुमुक्षुता' आनेके बाद होनी संभव है। ज्ञानदशा या वीतरागदशा दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टाका विषय नहीं है बल्कि वह आत्माका अंतरात्मगुण है। और वैसी अंतरात्मता जगतवासी जीवों, मंद दशावान मुमुक्षुओं या मध्यमदशाके मुमुक्षुजीवोंके अनुभवका विषय न होनेसे, एवं वैसे प्रकारका अनुमान भी कर सके ऐसी उनकी योग्यता न होनेसे, वे ज्ञानीको नहीं पहचान सकते। परंतु कोई जीव जिसकी कि होनहार अच्छी होती है वह सत्समागमके योगसे वैसी योग्यता प्राप्त करके ज्ञानीको पहचान लेता है, तब प्रथम सत्समागमके कालमें उस जीवको अकुलानेवाले अनेक प्रकारके असमाधानोंके प्रकारोंका समाधान अंतरसे प्राप्त होता है और उसके प्रमाणमें उसे यथाशक्ति ज्ञानीके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। परंतु वास्तविक पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागमसे स्वयंको प्राप्त वर्तमान प्रयोजनभूत उपदेशका अमलीकरण होनेसे अर्थात् अपने वर्तमान प्रयोजनके विषयको

तत्काल प्रयोगमें ले जा करके, अंतरमें आत्मवृत्तिसे परिणमन होने पर यानी कि बाह्यदृष्टिसे—बाह्यत्याग व बाह्यक्षयोपशम ज्ञानकी महिमा—छट करके, जीव ज्ञानीको पहचान सकता है।

उपर्युक्त प्रकारकी योग्यतासे मुमुक्षुजीव उत्तमकोटिकी मुमुक्षुतामें वर्तता होनेसे वह ज्ञानीकी वाणीका आशय समझ सकता है। उसी भाँति उसे ज्ञानी की वाणीके विलक्षण प्रकारके गुण—विशिष्टतायें—जैसे कि पूर्वापर अविरोधता; आत्मार्थ-उपदेशकता; और अपूर्व अर्थका निरूपण [अर्थात् ऐसे निरूपणसे उस मुमुक्षुको अपने भावोंमें अपना आत्महितरूप प्रयोजन अपूर्वरूपसे भासना]; एवं अनुभवसहितपना; तथा आत्माको सतत जाग्रत करनार; इत्यादि अनेक विशेषतायें—समझमें आती हैं। ऐसा उपदेश, आत्मस्वरूपके सभानपनेमें ही दिया जा सकता है। और उक्त प्रकारके आशयका उपदेश, भानसहित पुरुषके बिना नहीं दिया जा सकता, ऐसा सहज ही समझा जा सकता है। तब ज्ञानीपुरुषकी मुखमुद्रा द्वारा व उनकी मन, वचन, कायाकी विलक्षण चेष्टा द्वारा ज्ञानीपुरुषको पहचानना बनता है। उसमें भी ज्ञानीपुरुषके नेत्रोंमें जो वीतरागता, अंतर्मुखता व निर्लेपता आदि भाव, मुमुक्षुजीवको—उत्कृष्ट मुमुक्षुभूमिकामें प्राप्त ज्ञानकी निर्मलतासे—वाचनेको मिलते हैं; जिससे उनके प्रति अचल प्रेम और सम्यक् प्रतीति उत्पन्न होती है।

वास्तविकताका एक अटल और सर्वसामान्य मनुष्योंके अनुभवगोचर हो वैसा सिद्धांत यह है कि : परिणमन देखनेवालेको, जो परिणमन स्वयं देखता है वैसा, परिणमन सहज आविर्भूत होता है। जैसे कि अन्यके हर्ष–शोकके परिणामोंको देखनेसे देखने वालेको भी हर्ष–शोकके भाव सहज आ जाते हैं। यहाँ सिद्धांतमें ज्ञानीपुरुषके अंतरपरिणमनके द्वारा ज्ञानदशाके अपूर्वभाव, जो अंतरमें निजपरमात्मपदके अलौकिक पुरुषार्थसे आलंबन लेते हैं और उन भावोंका स्वरूप स्वरूपाकार होनेसे ज्ञानीपुरुषमें परमात्मतत्त्वका दर्शन होता है; जो ज्ञानीपुरुषमें परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न करता है। और वह बुद्धि, मुमुक्षुजीवको सर्व प्रकारके प्रतिबंधसे मुक्त करती है। जिससे अनुक्रमसे वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंदका उसने सेवन किया है उनकी दशाको प्राप्त होता है अर्थात् अवश्य ज्ञानदशाको प्राप्त करता है।

अब, जब मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुषकी पहचान होती है तब उसकी योग्यतामें अनेक प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं वे भी यहाँ ध्यातव्य

हैं : ज्ञानीपुरुषकी पहचान होनेपर जीवके अनंतानुबंधी क्रोध – मान – माया – लोभ फीके पड़नेका (अनुभाग घटनेका) प्रकार बनने योग्य है; ऐसे मुमुक्षुजीवके मताग्रह, दुराग्रहादि भाव भी छूट जाते हैं अथवा ढीले पड़ जाते हैं; और अपने दोष देखनेके प्रति चित्त मुड़ा करता है। सबसे महत्त्वका फेरफार यह होता है कि उसे विकथाआदिमें तथा धार्मिकचर्चामें अप्रयोजनभूत विषयमें बिलकुल नीरसता लगती है या जुगुप्सा उत्पन्न होती है। उसी भाँति अनित्यादि भावनाके चिंतवनके प्रति बल वीर्य स्फुरण हेतु जो ज्ञानीपुरुषसे श्रवण किया है या शास्त्रमें पढ़ा है उससे भी बलवान परिणामके द्वारा वह अपने संयोगोंके प्रति अनित्यता, अशरणता और असारताको दृढ़ करता है। जिससे सत्पुरुषको पहचाननेके पूर्व, संयोग व पंचविषयादिके प्रति, जिस प्रकारके रसवाले परिणाम थे वैसे परिणाम नहीं रहते और जीव यथार्थ प्रकारके वैराग्यमें आता है।

वास्तवमें तो अनंतकालमें दुर्लभ ऐसा जो आत्मज्ञान, वह सत्पुरुषका योग होने के बाद कुछ भी दुर्लभ नहीं है अर्थात् सहज और सुलभ है। कारण कि उस जीवको सत्पुरुषमें, उनके वचनोंमें, उन वचनोंके आशयमें अत्यंत प्रीति – भक्ति होती है जिससे कि यथार्थ प्रकारसे दर्शनमोह विगलित होकर उपशम होने योग्य होता है कि जिससे समकालमें स्वानुभूतिरूप आत्मज्ञानकी उत्पत्ति होती है। जबतक ऐसी दशा नहीं आती तब तक ऐसा समझने योग्य है कि जीवको मूलमें ही आत्मकल्याणकी यथार्थ भावना उत्पन्न नहीं हुयी, तथा उस जीवको सत्पुरुषका अपूर्व योग प्राप्त हुआ है ऐसा उसे भासित भी नहीं हुआ है।

जीवको सत्पुरुषका योग होने पर और पहचान होने पर ऐसा समझमें आता है कि, आजपर्यंत जो प्रयत्न मेरे कल्याणार्थ थे वे सभी निष्फल थे, लक्ष्यविहीन बाण जैसे थे। परंतु अब सत्पुरुषका अपूर्व योग हुआ है जिससे मेरे सर्व साधन सफल होनेका कारण मुझे प्राप्त हुआ है। मैं आत्महितके अलौकिक मार्गसे अनजान हूँ तथा मैंने अनुभवी मार्गदृष्टा पुरुषका शरण ग्रहण किया होनेसे, मार्गके प्रति चलनेमें चूक होगी तो, वे अवश्य मुझे बचा लेंगे। वह जीव तबसे—लोकसंज्ञासे जो निष्फल और निर्लक्ष्य साधन किये थे वे अब सत्पुरुषके योगसे न करने पर—अंतरात्मामें विचार करके दृढ़ परिणाम रखकर जागृत हो जाता है। उसे ऐसा भासता है कि इस योगसे मेरे जीवको अपूर्व फल प्राप्त होने योग्य है अतएव उसमें अंतराय करनेवाला "मैं जानता

हूँ'' ऐसे प्रकार का जो अभिमान न हो उसकी तीक्ष्ण जागृति आती है। उसी भाँति – 'संप्रदायमें होनेवाली क्रियाओंका तथा कुलपरंपरासे होते धर्मकार्योंका कैसे त्याग हो सके ?' ऐसा—लोकभय, या सत्पुरुषकी भक्तिमें भी लौकिकभाव नहीं होता। सत्पुरुषकी पहचान हो जानेके पश्चात्, कदाचित् ज्ञानीके कोई पंचविषयाकार कार्य उदयमें देखकर, मुमुक्षुजीव भूलसे भी वैसे भावका आलंबन या आराधन (जो अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका प्रकार है) नहीं करता।

—इस प्रकारसे ज्ञानीपुरुषकी पहचान, निर्वाणमार्गका एक बीजभूत प्रत्यक्ष कारण होनेसे और तथाप्रकारकी योग्यतामें आनेसे उस जीवको आत्मस्वरूपकी पहचान व लक्ष्य होने योग्य क्षमता प्राप्त होती है कि जिसमें परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति होती है जिससे निर्विकल्प परमार्थ अनुभवरूप सम्यग्दर्शनकी अल्प कालमें प्राप्ति होती है। निश्चय सम्यग्दर्शन के ये दोनों कारण (कारण और उसका कारण) वीतरागोंने मान्य किये हैं; अतएव ये तीनों (समकित) सम्मत करने योग्य हैं, उपासना करने योग्य हैं, सत्कार करने योग्य हैं; और भक्ति करने योग्य हैं।

सारांशके रूपमें कृपालुदेवके वचनामृत (८१७)का यहाँ उद्धरण करना योग्य है : ''आत्मदशाको पाकर जो निर्द्वन्द्वतासे यथाप्रारब्ध विचरते हैं, ऐसे महात्माओंका योग जीवको दुर्लभ है। वैसा योग मिलनेपर जीवको उस पुरुषकी पहचान नहीं होती, और तथारूप पहचान हुए बिना उस महात्माका दृढ़ाश्रय नहीं होता। जब तक आश्रय दृढ़ न हो तब तक उपदेश फलित नहीं होता। उपदेशके फलित हुए बिना सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना जन्मादि दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति नहीं बन पाती।''

उक्त वचनामृतमें लेखांकका सार स्पष्ट है जो आत्मार्थीजीवको निजहितार्थ उपासनीय है।

❒

एक महान् समस्या और उसका निराकरण

इस विश्वमें समस्याके असंख्य प्रकार हैं। परंतु जीवकी सबसे भारी समस्या अनंतकालसे जन्म–मरण करके, परिभ्रमण हो रहा है, सो है। विधिकी सबसे बड़ी विचित्रता भी यह है कि, जीव छोटी–मोटी समस्याओंकी चिंतासे घिरा हुआ रहता है अतएव महान् समस्याका अनादिसे विस्मरण हो रहा है। अरे ! ऐसी कोई समस्या है और उसका समाधान प्राप्त करना आवश्यक है—उसकी भी अधिकांश जीवोंको ख़बर नहीं है।

जिसका होनहार अच्छा है वैसा कोई जीव, किसी महत्पुण्योदयसे सत्संगमें आता है तब उसे समूचा संसार केवल दुःखमय लगता है; तथा 'मेरा' परिभ्रमण हो रहा है व अब भी परिभ्रमणके कारणरूप परिणाम वर्त रहे हैं—ऐसा लगने लगता है; और उस जीवको परिभ्रमणसे छूटने का भाव आता है अर्थात् अपना हित करनेका भाव जगता है। तब वह जीव अपने दोषकी ओर दृष्टि करता है। उसमें उसे यों लगता है कि—'मेरा परमें अपनेपनका भाव है, वही परिभ्रमण करवाता है। परमें निजत्वके भावके कारण मैं परकी चिंतासे अबतक घिराया हुआ रहा और इसीलिये परिभ्रमणकी समस्या विस्मृत रही; यह बड़ी भारी गंभीर भूल हुई।'—ऐसी यथार्थ समझसे, वह स्वयं तय करता है कि 'मुझे अब किसी भी कीमत पर परिभ्रमण नहीं करना है।'—इस निश्चयसे वह अपने दोष देखना शुरू करता है तब अपने दोष दिखाई देने लगते हैं और ज्यों ज्यों वैसा प्रयास बढ़ता है त्यों त्यों सूक्ष्मता आने लगती है। तथापि उदय-प्रसंगमें जो कुछ राग–द्वेष, हर्ष–शोक हुआ करता है तथा जितना कुछ विभावरस दिखता है, उसका पश्चात्ताप इस प्रकारसे होता है कि—मुझे तो परिभ्रमणसे छूटना है तिसपर भी परिभ्रमण करानेवाले ऐसे परिणाम होते हैं सो मुझे नहीं चाहिए। यों करते करते सहजरूपसे उसकी वेदना शुरू हो जाती है।

उक्त प्रकारसे वेदना बढ़कर तीव्र होती है तब अधिक उदासीनता वर्तती है। और उसका कहीं भी मन नहीं लगता। खाना–पीना, किसीके साथ मिलना–जुलना, बातचीत करनी नहीं रुचती। कोई आ

जाए तो वह बोझरूप लगे और बेचैन... बेचैन रहा करे। वह बेचैनी यहाँ तक बढ़ जाती है कि निद्रा भी नहीं आती।—ऐसी बेचैनी और वेदनाके दौरान ऐसा निर्णय होता है कि 'अब मुजे इस संसारमेंसे कुछ नहीं चाहिए।' जो कोई पदार्थ जुटानेकी वृत्ति उठे तो वह आकुलतामय लगती है। और जो जो इच्छायें हों उनमें आकुलताका ही अनुभव होता है।—ऐसी तीव्र वेदनाके कालमें चारों प्रकारके (—समाज, कुटुम्ब, शरीर और संकल्प–विकल्प) प्रतिबंध शिथिल हो जाते हैं। अधिकतर यह वेदना बहुत दिन चलती है, जिसके कारण अंतःकरणकी शुद्धि होती है। दोचार दिवस चली हुयी वेदना प्रायःकर यथार्थ नहीं होती किंतु वह भावुकतामय होती है। परंतु लंबे समय तक चली हुई वेदना, अत्यंत उदासीनतापूर्वक, पूर्ण शुद्धिके लक्ष्यमें परिणमित होती है।

ऐसी वेदनावाले मुमुक्षुके परिणमनको देख कर भी दूसरे जीवको तद्रूप परिणमन आता है; तब उसे ऐसा दिखाई देता है कि—इस जीवको परिभ्रमणकी कैसी थकान लगी है! मुझे तो अब भी संसारमें रस पड़ता है, इसलिये अब भी मैं परिभ्रमणसे नहीं थका हूँ, इत्यादिक विचारणासे उसपर असर आता है। और इस भाँति वह जीव, परिभ्रमणकी यथार्थ वेदनामें आता है।

ऐसे समयमें उसको एक मार्गदर्शक पुरुष की आवश्यकता पड़ती है। उसमें स्वयंको यों लगता है कि 'मैं संसारसमुद्रके मध्यमें डूब रहा हूँ। उसमेंसे सत्पुरूष मुझे डूबते हुएको बचा सकेंगे। इसलिये ज्ञानीपुरुषके आश्रयसे ही मेरा परिभ्रमण मिटेगा। अन्य कोई उपाय है ही नहीं।'—ऐसी सूझ अंतरसे आती है। जब ऐसी सूझ आती है तब प्रायः उसको ज्ञानीपुरुषका मिलाप होता है। तथा परम सत्संग-योगमें घनिष्ट परिचय साधकर उसको ज्ञानीपुरूषका अंतरपरिणमन दिखाई देता है। और उनके हृदयमें बिराजमान परमात्माके दर्शन होते हैं जिसके कारण ज्ञानीपुरुषमें परमेश्वरबुद्धि होती है। सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक अपूर्व स्नेह व अचल प्रेमसे वह सत्संगको आराधता है। एवं सत्पुरुषके प्रति परम प्रेमार्पणभाव वर्तनेसे परिणामोंकी निर्मलता आती रहती है। जो कदाचित् उपकारी सत्पुरुषके वियोगमें एक घड़ी बीतानी पड़े तो अत्यंत कष्टपूर्ण लगता है। तथा सत्संगके संयोगमें या वियोगमें, परिभ्रमण मिटानेका, निरंतर लक्ष्य और प्रयास चलता है।

इस भूमिकामें अमुक अंशमें निर्मलता आनेसे अंतरसे—जो जो

असमाधान होते हैं उनका—समाधान, निर्मलताके कारण, सहज आता है। तथा आगे क्या करना?—उसकी सूझ आने लगती है, ज्ञानमें विवेक आने लगता है और वह जीव आगे बढ़ता जाता है।

ऐसा नहीं कि मात्र प्रतिकूलता देखकर ही परिभ्रमण दिखाई पड़ता है; किंतु अनुकूलतामें फँसते हुए जीवोंको देखकर भी वह परिभ्रमणका ही कारण दिखता है; जिससे अपने हितरूप कार्य करनेमें शीघ्रतावाले परिणाम रहा करते हैं। अर्थात् वह जीव शिथिल होकर बैठा नहीं रहता, बल्कि उसको स्वकार्यकी उत्कटता व लगन लगती है एवं परिपूर्ण निर्दोष होनेका निर्धार सहज होता है; जिसमें दोष का एक कण (अंश) भी कलंकरूप जानकर 'वह नहीं चाहिए' और तदर्थ ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे चलनेकी वृत्ति रहती है। एवं ज्ञानीपुरुषका परिणमन देखकर स्वयंको भी वीर्योल्लास आता है जिसके कारण अपने आत्महितकी निःशंकता उत्पन्न होती है।

❐

सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला आत्मार्थी कैसा हो ?

अनंतकालसे संसारपरिभ्रमण करते जीवके भव्यत्वका परिपाक आता है। तब उस जीवके अंतर – बाह्य जीवनमें फेरफार होता है। और वह एक फेरफार के योग्य घटना बनती है। प्रायः उस जीवको सत्पुण्यसे या प्रयत्नपूर्वक सत्संगका योग होता है और उसमेंसे आत्मोन्नतिकी परिणामश्रेणि शुरू होती है। उस परिणाम श्रेणिका क्रम आत्मार्थीजीवके लिये प्रयोजनभूत होनेसे वह यहाँ प्रस्तुत है। उस परिणामश्रेणिकी विशेषता यह है कि उन परिणामोंकी प्रत्येक भूमिकामें दर्शनमोह विशेष – विशेष मंद होकर ज्ञानमें निर्मलता बढ़ती जाती है।

✹ सर्व प्रथम उस क्रममें प्रवेश करनेवाले जीवको, जो कि स्वयं अनंतकालसे चौरासी लाख योनियोंमें व चारों गतियोंमें जन्म – मरण करके परिभ्रमण कर रहा है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई अतएव क्या करनेसे उसकी निवृत्ति हो ? उसकी चिंतना प्रारंभ होती है। और वह चिंतना उग्र होकर वेदना और व्यथा उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होनेके पीछे विवेकपूर्वककी सुविचारणा रही हुई है। संसारमें अनेक प्रकारके व अकथ्य दुःखके प्रसंग उत्पन्न होते हैं किंतु उनमें सबसे अधिक दुःखमय प्रसंग आकुलाताका है कि जो अकुलाहट असह्य होनेसे जीव अपघातकर मौतको पसंद करता है। ऐसे असह्य दुःखोंसे निवृत्त होनेकी समस्या सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्याकी तुलनामें संसारकी कोई भी समस्या हो तो वह बहुत ही अल्प है। इसलिये विचारवानपनेके कारण समस्त उदय गौण होकर, सहज ही परिभ्रमणसे मुक्त होनेकी, वेदनापूर्वक जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

✹ जब कोई भी जीव उपर्युक्त वेदनामें आता है तब उसे अति वेदनाके वश खाने – पीनेसे लेकर समस्त उदयगत कार्योमें सहज ही नीरसपना हो जाता है और सहज उदासीनताका क्रम इस स्तरमें शुरू होता है। जिससे पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति और रसके परिणाम एकदम फीके पड़ जाते हैं। उसी भाँति संसार कि उपासनाका अभिप्राय

भी शिथिल हो जाता है। तथा इस भूमिकामें अनादि कालका स्वच्छंद शिथिल हो जाता है। संसार-उपासनाका अभिप्राय शिथिल होनेसे प्रतिबंधक भाव भी ढीले पड़ जाते हैं जिससे आत्मकल्याणकी दिशामें आगे बढ़ने हेतु अवकाश प्राप्त होता है।

✵ अनादिसे जीवका ध्येय संसारका होनेसे उसकी सावधानी देहादि संयोगोंकी सार – सँभाल व वृद्धिके कार्यमें वर्तती है। ऐसी सावधानी सदैव दर्शनमोहको तीव्र करती है, जिससे आत्महितकी विवेकवाली मतिको आवरण आता है। परंतु उक्त उदासीनताके कारण, उस प्रकारकी सावधानी छूटकर, जीव मुक्त होनेको निर्धार/निर्णयमें आता है और परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशा प्राप्त करनेका ध्येय बाँधता है। वह इस प्रकार कि—'अब मुझे इस जगतमें से कुछ भी नहीं चाहिए, एक मेरा आत्मा ही चाहिए।' ऐसी दृढ़ वृत्तिसे ही अंतःकरणकी शुद्धि होती है। जब शुद्ध अंतःकरणसे इस प्रकारका ध्येय बाँधनेमें आता है तब, संसारकी उपासना व संसारके ध्येयके कारण जो जो विपरीत अभिप्राय थे उन अभिप्रायोंमें परिवर्तन आता है और "एकमात्र मोक्ष अभिलाष" होनेसे मोक्षके बारेमें ही उसका अभिप्रायपूर्वक प्रयास चलता है। इस भूमिकामें विपरीत अभिप्रायोंका भलीभाँति परिवर्तन होता है और उसके कारण यहाँसे वास्तविक मुमुक्षुताकी शुरूआत होती है। एक न्यायसे इन परिणामोंसे मोक्षमहलकी नींवका पत्थर (मंगल शिलान्यास) रखनेमें आता है। उसी भाँति इस भूमिकाका सुदृढ़तासे निर्धार करनेसे मुमुक्षुभूमिकामें यथायोग्य उपजनेवाले अन्य आनुषंगिक परिणामोंकी सहज उत्पत्ति होती है। उसमें यह ध्येय/लक्ष्य कारणभूत है और इसी के फलस्वरूप सहजरूपसे ऊपर – ऊपरकी भूमिकाके परिणाम होने लगते हैं; जिनका विवरण निम्न है :-

✵ उपर्युक्त ध्येयका निर्धार होनेसे अंतरकी गहराईमेंसे स्वरूप-प्राप्तिकी अपूर्व भावना उदित होती है। ऐसी भावना पृष्ठ भूमि (Back Ground) कोई राग – द्वेषके कारण नहीं बल्कि मात्र निज चैतन्यमेंसे ही चैतन्यकी भावना उपजी हुई होती है। इसलिये वह जीव संवेगपूर्वक अपने ध्येयके प्रति पूरी लगनसे और उत्कटतासे लगता है। लगनके साथ साथ स्वकार्यकी पूरी उत्कंठापूर्वक आगे बढ़नेवाले मुमुक्षुकी भूमिकामें अति अल्पकालमें विकास होता है। जिस जिस प्रकारका विकास सधाता है, उन विकासके परिणामोंका विवरण निम्न प्रकारसे जानने योग्य है।

✸ पूर्णता का लक्ष्य निरंतर रहता होनेसे मुमुक्षुकी भूमिकाके विकासका मुख्य आधार जिसपर है ऐसी निजहितके प्रयोजनकी दृष्टि, यहाँसे प्राप्त होती है तथा वह दृष्टि, तीक्ष्णरूपसे व सूक्ष्मरूपसे प्रवर्तती हुई अपनेको अहितसे बचाती है और शीघ्रतासे हित साधनमें कार्यसाधक होती है। उदाहरणार्थ :- पूर्वकालकी अपेक्षा वर्तमानमें उच्चकोटिके शुभभाव होनेपर भी और उसमें आत्मकल्याणका लक्ष्य रहनेपर भी वहाँ स्वानुभूतिका अभाव होनेसे उसकी खटक अंदरमें बनी ही रहती है । जिसमे पूर्वकालकी तुलनामें अनेक प्रकारसे वर्तमानदशाका सुधार होने पर भी उसमें तनिक-सा भी संतोष नहीं होता, अपितु असंतोष वर्तता है। तथा स्वकार्य त्वरासे हो वैसी उत्कटता इस भूमिकामें होती है। जिसके कारण आ पड़े उदय के कार्यो की प्रवृत्ति करनी पडे उसमें थकान लगती है और वैसा उदय लंबाये तो त्रासरूप अनुभवाता है जिससे संसारबल घटता ही जाता है।

✸ निंजहितके प्रयोजनकी जो दृष्टि पूर्ण शुद्धिका लक्ष्य होने से प्राप्त होती है उस दृष्टिकोणके कारण एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंतरसूझ उद्भवती है जिससे अपनी भूमिकामें—भवरोगकी निवृत्तिका उपाय जिसने जाना है वैसे आत्मज्ञानी सत्पुरुषके चरणकमलके सान्निध्यमें रहनेका अभिप्राय हो आता है ! अनंतकालमें पहले अनेक धर्म-साधन करनेपर भी जीवको एसी सूझ नहीं आई और वह एक भयंकर बीजभूत भूल रह गई ! उस भूलका सुधार होना सो एक महत्त्वपूर्ण कार्यसिद्धि समझने योग्य है ! इस सूझके कारण आत्मार्थी जीवको ऐसा विवेक वर्तता है कि 'में मार्मसे अनभिज्ञ हूं ! तथा मेरे भवरोगके इलाज हेतु मुझे अपनी मतिकल्पनासे – स्वच्छंदतासे कुछ भी साधन या उपाय, मात्र उक्त बीजभूत भूलको टालने के अलावा, करना नहीं चाहिए ! वास्तवमें तो यदि कोई ज्ञानीपुरुष मिल जाये तो मेरे सर्वपरिणामोंकी किताब खोलकर मेरी प्रवर्तमान योग्यताको दर्शा दूं ! और मेरा कल्याण हो वैसे मार्गदर्शनकी याचना करू !'—ऐसे विवेकपूर्वक वह जीव मात्र सत्पुरुषको इच्छता है ओर उनकी खोज करता है ! एवम् वैसे महात्मा के योगमें, पहचाननेकी तीव्रता रखकर, उनकी पहचान करता है; और यदि पहचान हो जाये तो उन्हें परम प्रेमसे चाहता है और सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक उनके सत्संगमें रहकर, पूर्ण आज्ञाकारितामें रहकर यानी कि स्वच्छंदनिरोधपने भक्तिभावसे उस सत्संगकी उपासना करता है ! उनके चाहे जैसे वचनोंमें भी सम्यक्

नई जागृति आ जाती है जिससे अपने सर्व परिणामोमें अपक्षपातपने (मध्यस्थभावसे) अवलोकन चालु होता है। अवलोकन यानी वर्तते परिणामोंमें होनेवाले अनुभवको देखना। अवलोकनके इस प्रकारके अभ्याससे, अनुभवमें आनेवाले अनेक प्रकारके भावोंकी समझ, उन भावोंके अनेक पहलुओंसे अनुभवपूर्वक समझनेमें आती है यानी कि अपने भावोंकी समझ अनुभवपद्धतिसे होती है। प्रथम वे ही भाव विचारपद्धतिसे समझमें आये थे परंतु अवलोकनके अभ्यासपूर्वक वे ही भाव जब अनुभवपद्धतिसे समझनेमें आते हैं तब उन भावोंकी गहनता हाथमें आती है और कितने-ही भावोंके पीछे अभिप्राय शामिल हो तो उस अभिप्रायका बल और उसके कारण उपजनेवाला रस वग़ैरह पकड़में आता है। उदयभावोंमें वर्तता विभावरस, अवलोकन के कालमें पकड़नेमें आनेसे, वह यथार्थ प्रकारसे एकदम फीका पड़ता है और साथ ही साथ दर्शनमोहका अनुभाग भी विशेष घटता जाता है। तदुपरांत तत्त्वज्ञानका अभ्यास भी अंतर् अवलोकनपूर्वक चलता है यानी कि उन भावों संबंधी तत्त्वचर्चा चलती है; उन भावोंको अपने अवलोकनसे और अंतर् संशोधनपूर्वक समझना बनता है । उसमें भी जब अपना वर्तमान प्रयोजनभूत विषय आता है तब रस वृद्धिगत होता है। ऐसे आत्मार्थी जीवकी निर्णय करनेकी पद्धति प्रयोगपूर्वक हो जाती है। जो जीव केवल शब्दार्थ, भावार्थ, न्यायकी मददसे, तर्क–विचारसे, अनुमानसे या शास्त्राधारसे निर्णय करता है उसमें भूल या क्षति रहनेकी संभावना है परंतु प्रयोगपूर्वक/प्रयोगके शाणपर चढ़ाकर निर्णय होता है वह निर्णय, यथार्थ निर्णय होता है। ऐसा अवलोकनका फल है वह अन्य प्रकारसे प्राप्त नहीं होता।

वैराग्य : यद्यपि मूलसे वैराग्यकी क्रमिक शुरूआत तो परिभ्रमणकी व्यथाके कालमें सहज हो गई होती है, परंतु अवलोकनके स्तरसे यह वैराग्य और उदासीनता क्रमके आगे के स्तरमें प्रवेश करती है; और उससे उदयके कार्य जो पूर्वप्रारब्धवशात् आ पड़ते हैं जिससे वे करने पड़ते हैं, तब उनमें अमूल्य आत्मजीवन गँवाना पड़ता है ऐसा लगा करता है। एवं अवलोकन करते–करते सत्की गहरी जिज्ञासा उत्पन्न होनेसे वह जीव स्वरूपकी अंतर्खोजमें खो जाता है। और सत्स्वरूपकी गहरी जिज्ञासाके कारण सर्व उदयप्रसंगोंमें कहीं भी चित्त नहीं लगता, बल्कि अपने प्रयोजनभूत विषयको तो सूक्ष्म उपयोगसे, गहरी रुचिसे और गहन मंथनपूर्वक पकड़ता है। इस स्तरमें मार्गकी समीपता होनेसे

वर्तते परिणमनमें मुमुक्षुता वर्द्धमान होने पर भी (पूर्णताका लक्ष्य होनेसे) कहीं भी संतुष्ट नहीं होता, प्रत्युत प्राप्त योग्यता उसे गौण हो जाती है कारण कि पूर्णदशाकी अभिलाषा निरंतर वर्तती रहती है । ऐसे मुमुक्षु जीवको गुणकी महिमा व गुणकी मुख्यता ही वर्तती है जिससे अन्य मुमुक्षुके अल्प गुणके प्रति भी प्रमोद आता है और इस प्रकारसे आत्मरुचि अर्थात् गुणकी रुचि पोषित होती है। वैराग्यके साथ मुमुक्षुताका विकास हो वैसे आनुषांगिक परिणाम सहज अपनेआप उत्पन्न होते जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं :-

उक्त भूमिकामें आये हुए जीवको सत्पुरुषकी पहचान होनेमें, सत्पुरुषके वचनोंमें निहित 'अनुभवकी विधिकी गंभीरता और अंतर्मुख परिणमनके रहस्य'को गहन चिंतवन और अवलोकन द्वारा खोजता होनेसे वह पारमार्थिक रहस्यको समझ सकता है तथा उससे सत्पुरुषकी अंतर्परिणतिकी पहचानसे सत्पुरुष की महिमा उसके हृदयमें स्थित हो जाती है। विशेषकर सत्पुरुषके पुरुषार्थकी परिणतिके अवलोकनसे उसे स्वयंको ऐसी प्रेरणा मिलती है कि अपनी समग्रशक्तिसे (शक्तिको तनिक भी छिपाये बगैर) पुरुषार्थमें लगा रहता है। यहींसे भेदज्ञानकी पूर्वभूमिका प्रारंभ होनेसे विकल्पमात्रमें अंदरसे दुःख लगने लगता है जिससे विकल्पसे खिसकने के दृष्टिकोणवाले परिणमनकी तैयारी होती है। उससे औदयिकभाव उसे अत्यंत भाररूप लगे और कहीं भी न सुहाये, ऐसी उदासीनता रहा करे।

स्वकार्य शीघ्र करनेकी वृत्ति होनेसे 'पीछे करूँगा' ऐसा अरुचिसूचकभाव कभी भी नहीं आता बल्कि मेरा कार्य अभी ही होता हो तो अविलंब कर लेना ही है। तथापि अन्य कार्य प्रथम करनेके कारण यदि विलंब हो तो वह नहीं पोषाता। प्रत्युत स्वकार्यकी तत्परताका परिणाम चालु रहता है। एवम् उसकी अंतर–बाह्य निवृत्तिकी चाहतपूर्वक स्वकार्य करनेकी उत्कंठा रहा करती है।

पात्रताके आनुषंगिक परिणामोंमें ब्रह्मचर्यकी चाहना रहती है। और सैंकडों–हजारों विकल्पोंकी परंपराका मूल सर्जक ऐसा अब्रह्मचर्य अंतर्आत्मवृत्तिसे प्रतिपक्षभूत जानकर उसकी अरुचि रहा करती है।

तथा, स्वच्छंदकी हानि होनेके लिये अपने परिणामोंके अवलोकन के कालमें अपने दोष टालनेके हेतुसे अपक्षपात रूपसे देखनेका अभ्यास चलता है, उससे ज्ञानमें मध्यस्थता और निर्मलता पल्लवित होती जाती है ।

बहुजनपरिचय आत्मसाधनाके प्रतिकूल परिस्थिति है ऐसा जानकर एकांतप्रियता व अल्पपरिचयीवृत्ति रहती है। राग-रस मंद हुआ होनेसे आहार, विहार और निहारमें नियमितता रहती है जिससे वैसे उदयभाव मर्यादित रसवाले सहज प्रवर्तते हैं। वैराग्यके इस स्तरमें आत्मार्थी को तीव्ररसवाले परिणामोंसे अनियमित आहारादि नहीं होते। इस प्रकार अनेक प्रकारसे सामान्य जगतके जीवों और सामान्य मुमुक्षुसे विशेष योग्यतावान् होनेपर भी अपने गुणोंको व गुरुताको छिपाता है । वैसे प्रकारके मानव प्रसिद्धिसे दूर रहना चाहता है। ऐसा होनेमें कहीं भी कृत्रिमता या आडंबर न हो वैसी विचक्षणता भी रखी जाती है।

सन्मार्गकी यथार्थ कार्यपद्धति के मूलमें, मुक्तपने का मूल्यांकन प्रारंभसे ही आया हुआ होता है जिससे आत्मकार्यकी सर्वाधिक मुख्यता रहनेके पीछे ऐसी स्पष्ट समझ होती है कि यह एक ऐसा वास्तविक उपाय है कि जिससे चारों गतियोंके जन्म – मरण सहितके सर्व दुःखोंका अभाव होकर अनंत काल पर्यंतका पूर्ण समाधिसुख प्राप्त होनेका है। सुख – दुःखके इस प्रयोजन संबंधी आत्मविश्वास वर्तता होनेसे इस उपायकी सर्वाधिक मुख्यता रहनी स्वाभाविक है।

तत्त्वज्ञानके अभ्यासके कालमें शास्त्रोमें आनेवाले सर्व न्याय और अपेक्षित कथन तथा विभिन्न प्रकारकी वचन-विवक्षाओंको आत्महितके लक्ष्यसे समझनेकी पद्धति हो जाती है और कहीं भी पूर्वापर विरोधता नहीं भासती या असमाधान नहीं होता। एवम् कोई नया विपर्यास उत्पन्न नहीं होता। उपर्युक्त स्वलक्ष्यीपनेके कारण क्षयोपशमज्ञानका विकास होनेपर भी उसमें अहम्भाव होकर शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न नहीं होता। यथार्थताके सद्भावमें, जिसका मूल्य न हो सके वैसी समझका यह प्रकार सहज उत्पन्न होता है, नहीं तो प्रायः शास्त्राभ्यास सद्गुरुके चरणसान्निध्यके बगैर जाने – अनजानेमें शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न करता है।

पात्रतासूचक अनेक लाक्षणिक परिणामोंका एक परिणाम गति-निःशंकता आ जानेसे आगामी भवोंमें नीचगति होनेके संबंधमें स्वयंको शंका नहीं पड़ती इतना ही नहीं वरन् स्वयंकी मुक्तदशाकी योग्यता वर्तती होनेके कारण तत्संबंधी निःशंकता वर्तती है। और ऐसी निःशंकताको ज्ञानियोंने मुक्तिके मनकार गिनाये हैं।

आत्मार्थी जीव सरल परिणामी होता है। यह इस भूमिकाका श्रेष्ठ

सद्गुण है जिसके कारण अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होती। सरलताके कारण विचारशक्तिमें मध्यस्थता सहज रहती है जिससे गुण – दोषकी तुलना होनेमें भूल नहीं होती। सरलता और मध्यस्थता रहनेसे विचारोंमें विशालता रहती है, जिससे संप्रदायबुद्धि जनित संकुचितता नहीं रहती प्रत्युत जहाँ जहाँ सत्य और सद्गुण दिखाई देते हैं वहाँ वहाँ उनका सहज रूपसे स्वीकार होता है। ये तीन सद्गुण तत्त्वप्राप्ति हेतु पात्रतासूचक हैं।

सुखाभासका ज्ञान यानी कि अन्यद्रव्य – भावमें 'सुखकी कल्पना'का स्वरूप समझमें आया होनेसे पदार्थका वास्तविक स्वरूप लक्ष्यमें रखकर, उक्त कल्पना की निवृत्ति हेतु आत्मार्थी प्रयत्नवान् (सावधान) होता है जिसके कारण जगतके किसी पदार्थ प्रति अंतरंगमें भी सुखकी कल्पना (वासना) नहीं रहती अथवा परिणतिमें किसी भी इंद्रिय-विषयकी अपेक्षा नहीं रहती अथवा शुभपरिणामोंमें या साता वेदनीयके उदयकालमें आश्रयबुद्धि नहीं रहती।

मुमुक्षुकी भूमिकामें, परमार्थमार्गका अवरोधक स्वच्छंद नामका महा दोष है। आत्मार्थी जीव उसके विभिन्न प्रकारों और लक्षणोंको समझकर उसे टालनेका प्रयत्न करता है। यदि वैसा न करनेमें आये तो आत्मार्थिताका नाशक है। ऐसे कितने-ही प्रकार विचारणीय हैं, जो निम्न हैं :-

(i) परलक्ष्यी शास्त्र(ज्ञान)के उघाडमें, "मैं समझता हूँ" ऐसा अहंभाव और उस अहंभावके वशात् ज्ञानीपुरुषके वचनोंकी अपने समान तुलना करना।

(ii) अपने दोषका पक्षपात होना, बचाव होना तथा जिसपर राग/ममत्व हो वैसे अन्य व्यक्ति के दोषका पक्षपात होना।

(iii) सत्पुरुषके वचनमें शंका होनी अथवा उन वचनोंको मान्य करने हेतु शास्त्राधारकी अपेक्षा रखनी।

(iv) सत्पुरुषके वचनमें भूल देखनी अथवा अपने क्षयोपशमके अहंभावके कारण उसमें संशोधन करनेका भाव रहना।

(v) जहाँ – जहाँ मान मिले अथवा मान पोषित हो वहाँ जानेका आकर्षण रहे, मान प्राप्ति हेतु मन – वचन – कायाकी प्रवृत्ति हो अथवा लोकदृष्टि रहे जिसके कि कारण समाजकी मुख्यतासे आत्मार्थ गौण हो। एवम् किसी समूहमें अमुक स्थान संरक्षित रहे वैसी परिणति रहा करे एतदर्थ शुभप्रवृत्ति (?) करे अथवा स्वच्छंद तीव्र होनेपर अनैतिक

व अशुभप्रवृत्ति भी करे।

(vi) सत्पुरुषके उपकारको उल्लंघना यानी कि जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ हो उसीका अवर्णवाद करना।

(vii) सत्पुरुषके वचनामृतके प्रति और सत्पुरुषके प्रति अचल प्रेमका अभाव।

(viii) प्रत्यक्ष सत्पुरुषके प्रति परम विनय–अत्यंत भक्तिका अभाव। (यानी कि जितनी विनयकी न्यूनता उतना स्वच्छंद होनेका अवकाश रहता है)।

(ix) सत्पुरुषके औदयिकभावों और औदयिककार्यों में अपने समान कल्पना रहनी।

(x) सत्पुरुषके बाह्याचरणमेंसे चारित्रमोहके दोषोंको मुख्य करना।

(xi) बाह्यज्ञान–शास्त्रकी धारणा, उस परके झुकावके कारण अंतरमें मार्गकी सूझ न पड़नी अथवा अध्यात्मका विषय गौण होना।

—इत्यादिक प्रकारके परिणाम स्वच्छंदकी मंदता अथवा तीव्रताकी विद्यमानताको दर्शाते हैं।

तथा, आत्मार्थी जीवके आत्मार्थिताके बाधक ऐसे परिणामोंके प्रकार न हों वैसे कितने-ही प्रकार लक्ष्यमें लेने योग्य हैं जो निम्न हैं :-

(A) असरलता, हठाग्रह, ज़िद, पूर्वाग्रह और मताग्रह आदि प्रकारके भावोंका अभाव, मध्यस्थ विचारधाराके कारण व्यक्तिगत पूर्वाग्रहका अभाव।

(B) ज्ञानके क्षयोपशमकी विशेषताके कारण अपनेको मान मिले वैसी चाहत न हो।

(C). परंपरा और बाह्यक्रियाके आग्रहका अभाव।

(D) शास्त्र-कथन तथा ज्ञानीके वचनोंका कल्पित अर्थघटन न करे कि जिससे वस्तुस्वरूपसे अन्यथापना हो अथवा परमार्थसे दूर जाना हो।

(E) किसी भी कीमत पर सत्पुरुषसे विमुख होनेका स्वीकार न करे और उसके लिये अपकीर्ति, अपमान, व समाज, को गौण करे।

(F) प्रमादका अभाव होनेसे स्वकार्यमें उल्लसित वीर्यसे आगे बढ़े।

(G) शास्त्र-अध्ययन, तत्त्व-श्रवण और तत्त्व-चर्चा आदिमें ऐसा प्रकार न हो कि जिससे अपूर्ण निश्चय हो; विचारोंकी अपरिपक्वता रहे, शंकाशीलता रहे और उससे विकल्प वृद्धि हो अथवा विभ्रम उत्पन्न होकर विचारोंमें कुतर्क व डाँवाडॉलपना रहे।

(H) लौकिक अभिनिवेश यानी कि लोकमें जिन–जिन वस्तुओं और बातोंका या प्रसंगका महत्त्व गिना जाता है उनके प्रति माहात्म्यबुद्धिका

अभाव।

(I) शास्त्रीय अभिनिवेशसे दूर रहे। शास्त्रीय अभिनिवेश यानी आत्मार्थ सिवा शास्त्रकी मान्यता; अथवा शास्त्र-पठन या धारणामें संतोष; अप्रयोजनभूत विषयमें जानपनेकी महत्ता (और उससे आत्मार्थकी गौणता)।

(J) प्रत्यक्ष सत्पुरुषके सत्संगको गौण कर उसकी तुलनामें अपने शास्त्राध्ययनकी गणना करनी अथवा शास्त्रको उच्च गुणस्थान स्थित पुरुषके वचन गिनकर उसपर विशेष भार देना (ऐसा अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश ऐसे जीवको ही उपजता है कि जो लौकिक प्रयोजनवश शास्त्र-वाचन करता हो)।—ऐसे परिणाम जिसके न हो।

(K) संदिग्ध अवस्थाका अभाव। (अ) संदिग्ध अवस्थाके कारण, ज्ञान प्राप्ति हेतु अनेक ग्रंथोंका अध्ययन करने पर भी, संदेह उपजा करे जिससे कि अप्रयोजनभूत विषयपर वज़न रहे और उसमें अटकना हो। (ब) प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागममें पहचानका अभाव होनेसे अंतरंगमें सत्पुरुषकी अमुक प्रवृत्तिके प्रति संदेह अथवा अविश्वासका परिणाम रहे अथवा उनकी अमुक बात अयोग्य लगे.

(L) निश्चय-अभेद आत्मस्वरूपकी रुचिका अभाव। जिसके कारण ज्ञानमें भेद–प्रभेदकी रुचि रहा करे जिससे कि गुणभेद, पर्यायभेद, अनेक प्रकारके न्याय, नयज्ञान, कर्मके बंध–उदय और सत्ताके भेद–प्रभेदकी जानकारीमें रुचि व रस रहे।—ऐसे प्रकारका अभाव।

(M) अतिपरिणामीपनेका अभाव। अतिपरिणामीपनेके कारण शास्त्रके बाह्यज्ञानमें ज्ञानप्राप्ति मान लेना तथा विकल्पवाले समाधानसे मंदकषाय होनेसे ज्ञानसे प्राप्त लाभ मान लेना उसी भाँति सम्यक् परिणमनके अभावमें भी अपनेको कोई मानादि दे–वह रुचना। एवम् जानकारी रूप अपने ज्ञानका प्रदर्शन करनेका भाव। (—ऐसे प्रकारके भावोंका अभाव)।

तथा, क्षयोपशमज्ञानमें निस्चय–व्यवहार इत्यादि सब समझमें आने पर भी अंदरमें मार्ग प्राप्तिकी विधि स्वयंको पकड़नेमें न आये, अथवा आत्मसाक्षात्कार न हो, तब तक जिज्ञासाका अभाव न हो। उसी भाँति शास्त्र संबंधी या देव–शास्त्र–गुरु संबंधी कोई प्रवृत्ति निज मानार्थ न करे/तीर्थ/शासनकी किसी प्रवृत्तिमें अपने मानका लक्ष्य न रहे या न हो। विचारवान् जीव निंदा–प्रशंसार्थ कोई प्रवृत्ति न करे बल्कि पारमार्थिक लाभ–नुकसानका विचारकर प्रवृत्ति करे।

बाह्यक्रिया संबंधी मिथ्या आग्रह न हो कि जिससे असत् अभिमान हो अथवा देहात्मबुद्धि दृढ हो। व्रत – संयमादि दैहिक क्रियामें आत्मक्रिया माननेसे असतमें सत्की मान्यता होती है और गृहीतमिथ्यात्वका प्रसंग आता है।—ऐसी भूल न करे। एवम् लौकिक मानार्थ भी व्रतादिका पालन न करे।

पुण्यके फलस्वरूपमें बाह्य अनुकूलताकी अभिलाषासे भी व्रत – तप न करे अथवा कोई रिद्धि – सिद्धि आदिकी निदानबुद्धि भी न करे।

अकेला अध्यात्म-चिंतन यानी कि अध्यात्म-विषयका केवल जानपना करने जानेपर शुष्क अध्यात्मपना उत्पन्न होता है। उसमें अध्यात्मका भावभासन नहीं होता। मात्र राग-रस और अध्यात्म-भाषाका रस (वाणीका रस) जो कि पुद्गलका रस है तथा उसमें आत्मरस/ज्ञानरसका अभाव होता है, सो वह अध्यात्मका व्यामोह है—ऐसा प्रकार भी सच्चे आत्मार्थीके, सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवालेके नहीं होता।

उपर्युक्त योग्यतापूर्वक अपने भावोंका अवलोकन होनेसे 'आत्मभाव तथा अन्य भावों का परिचय होनेसे उनकी जाति पहचाननेमें आती है; एवम् आत्मभावके आदरपूर्वक अन्यभावोंका निषेध शुरू होता है। इस भाँति अवलोकनकी भूमिकाका पर्याप्त प्रयोग होनेसे उसमेंसे भेदज्ञानके प्रयोगकी उत्पत्ति होती है, ज्यों ज्यों भेदज्ञान का प्रयोग भली भाँति होता जाता है त्यों त्यों ज्ञानमें निर्मलता और सूक्ष्मता प्राप्त होती जाती है। उस निर्मलता व सूक्ष्मज्ञानके कारण, ज्ञानोपयोगमें रहे हुए सूक्ष्म ज्ञानस्वभावका भावभासन आता है यानी कि निजस्वरूपका अस्तित्व ग्रहण होता है। एकबार अस्तित्व ग्रहण होनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। वह इस प्रकारसे कि, आत्मस्वरूप अनंत महिमावंत है उतनी उसकी, अपने स्वरूपमें, अनंत महिमा भास्यमान होती है और यहाँसे सम्यक् संमुख पुरुषार्थकी (चैतन्यवीर्यकी) स्फुरणा उत्पन्न होती है। वह पुरुषार्थ और महिमा दिन – प्रतिदिन वृद्धिगत होती है और आत्मार्थीको उसकी धुन चढ़ जाती है; जिसके फलस्वरूप निर्विकल्प स्वरूपकी निर्विकल्प स्वानुभूति उत्पन्न होती है। वह स्वानुभूति सो ही आत्मसाक्षात्कार है। और उसी समय मिथ्या श्रद्धा नष्ट होकर सम्यक् श्रद्धा/ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। और मोक्षमार्गका प्रारंभ होता है यानी कि प्रारंभमें ही अनंत जन्म – मरणकी अनंतताका नाश हो जाता है जिससे अल्प भवमें जीव मोक्षपदको प्राप्त होता है।

❑

सम्यक्त्व क्या है ?

विश्वके सभी दर्शनोंके तत्वज्ञानमें इस विषयका कोई प्रकरण देखा नहीं जाता। अतः यह जैन दर्शनका एक अनुठा प्रकरण है। और जैन दर्शनका रहस्यभूत भी है। पूर्वके अनेक आचार्यो और ज्ञानियोंने इस विषय पर भिन्न भिन्न प्रकारसे संकेत किया है। इसलिये यह समजा जाता है। सर्वथा वचनगोचर नहीं होनेसे यह वचन अगोचर भी कहा जाता है। परन्तु कथंचित वचनगोचर है। यह बात इसके नामाभिधान से समझी जाती है। परन्तु यह ज्ञानगोचर है। अगर ऐसा नहीं होता तो इसका निर्देश होना ही अशक्य रहेता।

पंचाध्यायी उत्तरार्धकी निम्न गाथा यहाँ पर उल्लेखनीय है।

सम्यकत्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात॥ [४००]

गाथार्थ : सम्यक्त्व वस्तुतः सूक्ष्म है। (बहुभाग) वचनोंके अगोचर है। इसलिये विधिपूर्वक कहनेके लिये और सुननेके लिये कोई भी अधिकारी नही है।

सम्यक्त्वका यह विषय अति सूक्ष्म होनेसे लोकमें हंमेशा रहस्यभूत रहा है। फिर भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रयोजनभूत होनेसे यहाँ पर इस विषय पर प्रकाश ड़ालनेका यथाशक्ति प्रयास किया गया है।

सम्यक्त्व प्रकट होने पर सभी गुणोंका आंशिक शुद्ध और आंशिक आत्मसन्मुख परिणमन होने लगता है। अतः परम कृपालुदेव श्रीमद् रामचंद्रजीने इस बातको सूत्र निबध्ध की है। "सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व"

मूलमें सम्यक् शब्द संस्कृत भाषाका शब्द है। और यह शब्द आत्माभिमुख ऐसी दिशासुचकपना का द्योतक है। सम्यक्त्वका जैन संप्रदायमें रूढि अर्थ सत्य और उत्तम प्रचलित है। जिससे इसकी पहचान सरल होवे।

सम्यक्त्व प्रकट होनेसे आत्माके अन्य मुख्य गुणोंके परिणमनको यह विशेषण प्रयोग किया जाता है। जैसेकि सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् पुरुषार्थ इत्यादि।

प्रथम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानमें शुद्धोपयोगके कालमें प्रकट होता

है। परन्तु सम्यक्त्वको शुद्धोपयोगके साथ समव्याप्ति भी है और विषम व्याप्ति भी है। (पंचाध्यायी उत्तरार्ध) अर्थात् सम्यक्त्व शुद्धोपयोगके कालमें रहेता है और शुभ-अशुभ (अशुद्ध) उपयोगके कालमें भी रहेता है।

यहाँ पर सम्यक्त्वकी अनेक पहलुसे चर्चाका प्रसंग है। तब उसके उत्पन्न होनेके कारणकी भी थोडी चर्चा आवश्यक है। क्योंकि सम्यक्त्वरूपी कार्यका कारण मुमुक्षकी भूमिकामें होता है। इसलिये ऐसे कारण संपन्न मुमुक्षुको सम्यक् सन्मुख (परिणामवाला) मुमुक्षु कहा जाता है। और मुमुक्षुकी भूमिकामें ज्ञान ही एकमात्र साधन है। इस विषयमें पंचाध्यायी उतरार्धकी ४०१ गाथा दृष्टव्य है।

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येनहेतुश्य तस्मात्तत् परमं पदम ॥

गाथार्थ : आत्माकी (मुमुक्षुकी भूमिकामें) साधनादि विधिमें ज्ञान ही एक प्रसिद्ध (मुख्य साधन) है। और (ज्ञान ही) स्वानुभूतिका एक मात्र कारण होनेसे वह परमपद है।

इसप्रकार प्रथम स्वानुभूतिके कालमें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है अतः सम्यक्त्वका कारण भी ज्ञान ही लेना चाहिये। यह ज्ञान मुमुक्षुकी भूमिकामें भेदज्ञान का प्रयोगात्मक प्रयासरूप प्रकार है । जहाँ अंशतः रागका (रागके अवलंबनका अंशतः) अभाव करके ज्ञानमें आत्म स्वरूपका निश्चय किया जाता है। यहाँ पर जितना अनंत महिमावंत आत्मस्वभाव है उसका भावभासन होता है। और भावभासन होनेसे इसकी उतनी ही महिमा आने लगती है। और यही स्वरूपमहिमाकी (डीग्री) तारतम्यता बढ़ते बढ़ते स्वरूपाकार निर्विकल्प अवस्था होती है। अतः स्वरूपकी अत्यंत अत्यंत महिमा वही सम्यक्दर्शन है।

परिणामोंके आश्रय अवलंबनकी अपेक्षासे त्रिकाल भूतार्थ स्वभावका आश्रय ही सम्यक्दर्शन है। जिसका संकेत समयसारजीकी ११वी गाथामें श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यदेवने किया है।

इस प्रकार सम्यक्त्व अंतर्मुख ज्ञानमें ही जाना जाता है। अंतर्मुख होकरके रागका एक सूक्ष्म कण को भी अपनेमें मिलावट होने नहीं दिया। और अनादिके रागके एकत्वके तोड़करके अध्यासका भी त्याग उसीका नाम सम्यक्त्व है अतः जो भिन्न स्वरुप है ऐसे परद्रव्य और परभावको भिन्नरूपसे अनुभव करना वही सम्यक्त्व है।

अनुभव प्रकाशमें पूज्य श्री दीपचंदजी कासलीवाल लिखते है ''जहाँ जहाँ ज्ञान वहाँ वहाँ मैं ऐसा दृढ भाव सम्यक्त्व है'' । अर्थात् ज्ञान सामान्यमें – अनुभूतिरूप ज्ञानमें दृढ भावसे अहंपना होनेसे स्वरूपमें अभेदता सधती है। जिसको ज्ञानी पुरूष सम्यक्त्व कहते है ।

सम्यक्त्वका विवेचन बहुभाग ज्ञान प्रधानतासे होता है। और यह अनेक पहेलुसे होता है। जिसके कुछ दृष्टांतका यहाँ पर उल्लेख किया जायेगा। जैसेकि विभावकी अत्यंत विपरीतताका ज्ञानमें भासित होना वह ज्ञानका सम्यक्त्व है। अपने अविपरीत स्वभावसे प्रतिपक्षरूप स्वभाव जो जो परिणाममें होता है वह सम्यकज्ञानमें स्पष्टतया मालूम पड जाता है ।

पुनः जो ज्ञान प्रमाण हुआ वह सम्यक् है। क्योंकि प्रमाणज्ञानमें ही सामान्य – विशेषका युगपत अनुभव होता है। इसप्रकार स्वानुभव प्रमाणज्ञान ही सम्यक्ज्ञान है। ज्ञानकी सन्मुखताके और भी अनेक पहेलु है जैसे कि स्वानुभवी मोक्षमार्गी धर्मात्माको ऐसा अनुभव रहेता है कि ''मेरा जो ज्ञान है वह किसी भी कर्मके उदय के आक्रमण के वख्त अपना ज्ञानत्व छोड़ता नहीं है। ऐसा अनुभव सम्यक् है। इस सम्यक्त्वका ऐसा प्रभाव है। मोक्षमार्गीको प्रतिसमय अनंतगुण विशिष्ट आत्मभाव वर्धमान होता रहेता है। और इसीके अनुपातमें अपनी आत्मा निर्मल होती जाती है और द्रव्यकर्मकी निर्जरा होती रहेती है।

पुनः सम्यक्दर्शनपूर्वक खिला हुआ ज्ञान अपने प्रयोजनमें साधक होनेसे सम्यक् है।

पुनः भूतार्थ (निज परमात्मस्वरूप) आश्रित नवों तत्वोंका ज्ञान वह सम्यक्त्व है। नवों तत्वोंका तत्त्वदृष्टिसे भिन्न भिन्न स्वरूप होने पर भी एक दृव्यमयपणाके कारणसे (एक द्रव्यमयपना एकत्व शक्तिके कारणसे है) नवों तत्वोंमें एक चैतन्य ज्योति अखंड भावसे रही हुई है जो सम्यक्दृष्टि जीवके ज्ञानका विषय होती है।

पुनः स्वरूपका स्वयंके ज्ञानमें स्पष्टरूपसे ग्रहण होना वही ज्ञानकी सम्यक् स्पष्टता है। (विकल्पात्मक बाह्यज्ञान में न्यायादिक की स्पष्टता होना यह वास्तविक स्पष्टता नही है।

स्वरूपदृष्टि स्वरूपको देखकरके स्वयंकी महिमाके कारणसे स्वरूपमें अभेद हो जाये यह दृष्टिका सम्यक्त्व है।

पुनः अनंतगुण समृद्ध पुर्ण पर्यायको भी परके स्थानमें गिननेवाली

दृष्टि सम्यक् है।

सम्यकृत्वके और भी कुछ रूप है जो दृष्टव्य है।

व्यवहारका व्यवहारके स्थानमें निषेध नही करना वह सम्यक् है और साथ ही व्यवहारका निश्चयके स्थानमें निषेध करना वह सम्यक् है। पंचाध्यायी परमागममें व्यवहारके निषेधको ही निश्चयका स्वरूप नास्तिसे बतलाया है। क्योंकि निश्चय आत्मस्वरूप वचन अगोचर है। वहाँ यही अभिप्राय है। परन्तु मोक्षमार्गमें व्यवहारके स्थानमें सद्भूत और असद्भूत दोनो प्रकारके व्यवहारका सम्यक्प्रकारसे निरूपण किया गया है।

आत्माके सर्व गुणोंका स्वरूपाकार परिणमता हुआ अंश वह परिणमनका सम्यकृत्व है।

अनंत स्वसंवेदनपूर्वक परिपूर्ण अंतर्मुखता अभेदरूपसे जिनेन्द्र परमात्मामें दिखाई देना वह सर्वज्ञका सम्यक् प्रकारसे दर्शन है।

शास्त्र स्वाध्याय करनेवालेको भेदज्ञानपूर्वक भिन्न, एकांत शुद्ध ज्ञानमय आत्माका वेदन होना वह शास्त्र स्वाध्यायका सम्यक् फल है।

जिनागमके सर्व कथनमें अथवा ज्ञानीपुरुषके श्रीमुखसे प्रवाहित सर्व वचनमें आत्मकल्याणका आशय समाविष्ट है। एक परमाणुसे लेकर यदि ब्रह्मांडका विवरण और मेषोन्मेषकी क्रिया से लेकर शुक्ल ध्यानकी सभी बातें एक आत्मकल्याण होनेके लिये कही है। अतः यह वचन सम्यकृता है। जिसका आधार कथन करनेवालेकी परिणमनकी सम्यकृता है।

यह सम्यकृत्वका प्रभाव है कि सम्यकृत्वी किसी भी प्रकारका कथन करता है जो पारमार्थिक हेतु वश होता है। और इस कारणसे किसी भी मुद्दे पर अधिक वजन देता है परन्तु संतुलीतता खोके नही (सम्यकत्वके अभावमें ऐसा ही कथन एकांतपना धारण करता है) अतः जहाँ सम्यक् एकांत है वहाँ ही सम्यक अनेकांत है।

मिथ्यात्व और सम्यकृत्वकी समीक्षा प्रतिपक्षपना के कारणसे करने योग्य है।

परद्रव्य और परभावमें अपनापन वह मिथ्यात्व है तो परद्रव्य और परभावमें परपनाका भाव वह सम्यकृत्व है।

परद्रव्यमें और रागका कर्तापना जो मिथ्यात्व है तो परद्रव्य और रागका ज्ञातापना सम्यकृत्व है।

परद्रव्यकी आधारबुद्धि मिथ्यात्व है जबकि स्वद्रव्य की आधारबुद्धि

वह सम्यक्त्व है।

परद्रव्यमें सुखबुद्धि मिथ्यात्व है तो स्वद्रव्यमें सुखबुद्धि सम्यक्त्व है।

अंतमें यह उल्लेखनीय है कि सम्यक्त्व दो काम करता है – एक श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और पुरुषार्थ के परिणमनमें विपरीतता होने नहीं देता और दूसरा नये कर्मके आश्रवको रोक लेता है। अतः सम्यक्त्व स्वयं संवर है।

मोक्षमार्गके यह सम्यक्त्व के अलावा, इस सम्यकत्वके कारणभूत जो भूमिकायें है उसमें कार्यका कारणमें उपचार करके मुमुक्षुकी भूमिकाका सम्यक्त्व कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने बताया है। जो निम्न प्रकार है।

मूलमें चैतन्यमेंसे उत्पन्न भावना, यानी राग-द्वेषमें से नही उत्पन्न हुई भावना अवश्य सफल होती है। जैसे निश्चय मोक्षमार्गके परिणाम उदयके साथ जुडते नहीं अतः अनुदय परिणाम है, वैसे इस प्रकारकी भावना किसी भी अनुकूल-प्रतिकूल उदयके साथ जुडती नही है। जो भविष्यमे होनेवाले मोक्षमार्गके अनुदय परिणाम सदृश्य होनेसे मोक्षमार्गमें कारणभूत होकरके परिवर्तीत हो जायेगी।

सजीवनमूर्तिकी पहचान होनेसे उनके वचनकी प्रतीति उनके वचनको आज्ञा समझकरके रुचिपूर्वक उसका अनुसरण करना ऐसी आज्ञारुचि और उनकी स्वच्छंद निरोध भक्ति कि जिस भक्तिमें भक्तिका अहंभाव भी नही होता है। ऐसे परिणाम परमार्थ सम्यक्त्वका प्रत्यक्ष कारण होनेसे इस भूमिकाका यह बीजभूत सम्यक्त्व कहा गया है। (आत्मसिद्धि गाथा : १७)

जिसको सजिवनमूर्तिकी पहेचान होती है उसको निष्पक्षरूपसे अपने परिणामका और दोषोंका अवलोकनका प्रयोग चालु होता है और इस प्रयोगके दौरान अपने विपरीत अभिप्राय मिटते जाते है और अविपरीत अभिप्राय बनते जाते है। इस प्रकार चारों पडखोंसे यथार्थता उत्पन्न होती है। जो यथार्थता आगे जा करके सम्यक्त्वमें परिवर्तीत होती है। अतः आत्मार्थीका यथार्थ परिणमन कारण है और सम्यक्त्व कार्य है।

इस प्रकारके यथार्थ परिणमनमें जब आत्मस्वरूपकी पहेचान होती है तब स्वरूपका भावभासनपूर्वक स्पष्टतया निश्चय होता है। इस प्रकारके निश्चयके साथ निश्चयबल पैदा होता है और अनंत महिमावंत परम

पदार्थ परमात्मतत्वकी उत्कृष्ठ महिमा और अभेद रूचि प्रकट होती है। ऐसी सम्यक्त्व सन्मूख भूमिका परमार्थ सम्यक्त्वकी अंगभूत होनेसे सम्यक्त्वका साक्षात कारण है। अथवा उक्त परिणाम सम्यक्त्वका साक्षात्कार करा देगा।

✸ अंतमें सम्यक्त्वकी स्तुति-प्रशंसा करते हुए –

(१) अनंत जन्म-मरणको कोइ रोकनेवाला है तो एक सम्यक्त्व ही है।

(२) सम्यक्त्व स्वरूपकी भ्रांतिको पैदा होने नहीं देता !

(३) सम्यक्त्व एक बलवान यौद्धा है जिसके तेजसे सर्व कर्म दुरसे ही पीठ दिखाकर भगने लगते है और सम्यक्त्व ही अनंत गुणोंको प्रकट होने का मूल है।

□

श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	पृष्ठ संख्या	मूल्य
1.	શ્રી ગુરુ-ગુણ-સંભારણાં – બહેનશ્રી ચંપાબહેનના શ્રી મુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ...	૧૨૨	૫.૦૦
2.	શ્રીજિણસાસણંસવ્વં–જ્ઞાનીપુરુષવિષયકવચનામૃતોનુંસંકલન...	૧૫૫	૮.૦૦
3.	श्रीजिणसासणंसव्वं – ज्ञानीपुरुषविषयकवचनामृतोंकासंकलन...	१५५	८.००
4.	શ્રી દ્વાદશઅનુપ્રેક્ષા – શ્રીમદ્ ભગવત્કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત...	૩૨	૨.૦૦
5.	श्री द्रव्यद्रष्टिप्रकाश – (तीनों भाग), निहालचंद्रजी सोगानीके पत्र व तत्त्वचर्चा	२४०	१५.००
6.	શ્રી દ્રવ્યદૃષ્ટિપ્રકાશ – (ત્રીજો ભાગ), શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીની તત્ત્વચર્ચા	૧૫૮	૪.૦૦
7.	શ્રી દશલક્ષણ ધર્મ – ઉત્તમ ક્ષમાદિ દશ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચન...	૭૪	૬.૦૦
8.	श्री दूसरा कुछ न खोज – प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन...	४०	६.००
9.	श्री दंसणमूलोधम्मो – सम्यकृत्व महिमा विषयक आगमोंके आधार.	६०	६.००
10.	શ્રી ધન્ય આરાધના – પૂ. કૃપાળુદેવ શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની આભ્યંતર દશા વિષે વિવેચન...	૧૪૪	૧૦.૦૦
11.	શ્રી નિર્ભ્રાંતદર્શનની કેડીએ – લે. શ્રદ્ધેય શ્રી શશીકાંત મ. શેઠ...	૬૦	સ્વાધ્યાય
12.	श्री निर्भ्रांतदर्शन की पगडंडी – ले. श्रद्धेय भाईश्री शशीकांत म. शेठ...	६०	१०.००
13.	શ્રી પરમાત્મપ્રકાશ – શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત...	૪૮૫	૧૫.૦૦
14.	શ્રી પરમાગમસાર– પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીનાં ૧૦૦૮ વચનામૃત...	૨૭૮	૧૧.૨૫
15.	श्री परमागमसार – पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के १००८ वचनामृत...	२००	१५.००
16.	શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) પૂ. ગુરુદેવશ્રીની પસંદગીનાં ખાસ પ્રવચન	૩૪૪	૨૫.૦૦
17.	શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨),,,,,, ,,	૩૦૮	૨૫.૦૦
18.	શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩),,,,,,,,		૪૦.૦૦

19.	શ્રી પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) શ્રી પંચાસ્તિકાય સંગ્રહ પરના પૂ. ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચન...		૩૫.૦૦
20.	શ્રી પથપ્રકાશ – માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન...	૧૦૯	૬.૦૦
21.	श्री प्रयोजनसिद्धि ले. श्रद्धेय श्री शशीकांत म. शेठ	३०	४.००
22.	શ્રી પ્રયોજનસિદ્ધિ લે. શ્રદ્ધેય શ્રી શશીકાંત મ. શેઠ	૩૬	૩.૦૦
23.	श्री मूलमें भूल – पू. गुरुदेवश्री के विविध प्रवचन	११०	८.००
24.	श्री विधि विज्ञान – विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन	७६	३.००
25.	શ્રી વિધિ વિજ્ઞાન-વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન	૮૦	૭.૦૦
26.	શ્રી ભગવાન આત્મા – દ્રવ્યદૃષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન	૭૨	૭.૦૦
27.	શ્રી સમ્યગ્જ્ઞાન દીપિકા – લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક	૧૧૫	૨૦.૦૦
28.	श्री सम्यग्ज्ञानदीपिका – ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक	१३३	२०.००
29.	શ્રી તત્ત્વાનુશીલન (ભા.-૧-૨-૩) લે. શ્રદ્ધેય શ્રી શશીકાંત મ. શેઠ	૬૦	૨૦.૦૦
31.	श्री तत्त्वानुशीलन (भा.-१-२-३) ले. श्रद्धेय श्री शशीकांत म. शेठ		२0.00
32.	श्री अनुभवप्रकाश ले. दीपचंदजी कासलीवाल	८४	५.००
33.	શ્રી આધ્યાત્મિક પત્ર-શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીના પત્રો	૧૧૦	૨.૦૦
34.	શ્રી અધ્યાત્મ સંદેશ – પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં વિવિધ પ્રવચનો	૧૯૯	૫.૫૦
35.	श्री ज्ञानामृत श्रीमद राजचंद्र ग्रंथमेंसे चयन किये गये वचनामृत	८८	६६.००
36.	શ્રી જ્ઞાનામૃત – શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલાં વચનામૃત	૮૭	૬.૦૦
37.	બીજું કાંઈ શોધ મા – પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન	૪૦	૬.૦૦
38.	મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ – 'શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' પત્રાંક-૨૫૪ પર શ્રદ્ધેય શ્રી શશીકાંત મ. શેઠનાં પ્રવચનો		—
39.-	मुमुक्षुता आरोहण क्रम – 'श्रीमद् राजचंद्र' पत्रांक-२५४ उपर श्रद्धेय श्री शशीकांतभाई म. शेठ के प्रवचन		१५.००
40.	'સમ્યક્દર્શન'ના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો અમૃત પત્ર.' 'શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' પત્રાંક-૪૯૩ પર શ્રદ્ધેય શ્રી શશીકાંતભાઈ મ. શેઠના પ્રવચનો		(પ્રેસમાં)

पाठकोंकी अंगत नोंध के लिए